गद्य-चयन

प्रो० उमाशंकर

गद्य-चयन

सम्पादक

प्रो० उमाशंकर शर्मा

प्राध्यापक—काशी विद्यापीठ

नेपाली खपरा, वाराणसी

प्रकाशक
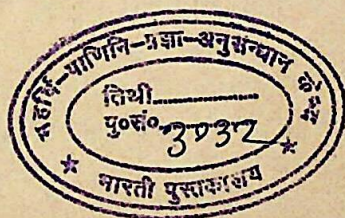
मानस-मिलन

नेपालीखपरा, वाराणसी

छठवाँ संस्करण : १९७

प्रतियाँ : १००

मूल्य : रु २·०००

मुद्रक

के० कृ० पावगी

हितचिन्तक प्रेस

५५ रामघाट, वाराणसी-१

संकलन के सम्बन्ध में

हिन्दी आज सम्पूर्ण देश की भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुकी है। सरकारी स्तर पर राजनीतिक कारणों से इसे उचित सम्मान देने में भले ही उपेक्षा दिखा जा रही हो, सामाजिक और व्यावहारिक जीवन में हिन्दी का महत्व उत्तोत्तर बढ़ रहा है। आज देश के अधिकांश भाग में हिन्दी अनिवार्य भाषा रूप में पढ़ाई जा रही है। किन्तु हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रारंभिक कक्षाओं से लेकर उच्च कक्षाओं तक अनिवार्य भाषा के रूप में किस प्रकार और किस क्रम से अध्ययन-अध्यापन किया जाय, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित और मान्य क्रम स्थिर न होने के कारण विद्यार्थियों को अन्त तक न तो भाषा का ही ठीक ज्ञान हो पाता है, न साहित्य का ही। प्रारम्भिक स्तर पर विद्यार्थी के भाषा-ज्ञान पर बल दिया जाना चाहिये। ८वीं कक्षा तक के लिये पाठ्य-क्रम और पुस्तकें तैयार करते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये कि विद्यार्थी के मस्तिष्क के लिये वर्ण्य विषय ही इतना गुरु-गम्भीर न हो जाय कि वह उसी में उलझ जाय और भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये वह अपेक्षित समय और अभ्यास न दे सके। उच्च माध्यमिक स्तर पर भाषा-ज्ञान के साथ-साथ साहित्य की विविध शैलियों के सामान्य परिचयात्मक ज्ञान द्वारा उसमें साहित्यिक रुचि उत्पन्न करने की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इस स्तर पर विद्यार्थी के ज्ञान का क्षेत्र भी क्रमशः बढ़ाना आवश्यक होता है; इसलिये ऐसी कक्षाओं के लिये अनिवार्य हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकें तैयार करते समय साहित्य की विविध शैलियों में सुबोध ढंग से ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों से विद्यार्थी को परिचित कराने का प्रयत्न भी

होना चाहिये । प्रस्तुत संकलन इसी दृष्टि से तैयार किया गया। इसमें हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखकों की ऐसी रचनाएँ संकलित की ई हैं जो विद्यार्थियों के लिए सुबोध हैं । संकलन करते समय निबन्ध, नी, नाटक, जीवनी, यात्रा आदि विविध गद्य-रूपों के साथ-साथ निक गद्य के विभिन्न लेखकों की लेखन-शैलियों को ध्यान में रखा गया । रोचक निबन्ध, कहानी, नाटक आदि गद्य रूपों का चुनाव नवीं, दशवीं ा के विद्यार्थी के ज्ञान-स्तर को ध्यान में रखकर किया गया है; साथ । इस बात को भी ध्यान में रखा गया है कि इन साहित्यिक रचनाओं के द्वारा उन्हें शिक्षा और ज्ञान भी प्राप्त हो सके। प्राचीन भारतीय इति‍ास, भारतीय साहित्य और संस्कृति, महापुरुषों के चरित्र और संस्मरण था आधुनिक जीवन से संबन्धित रचनाओं का चयन विशेष रूप से इसी ये किया गया है कि ये रचनायें विद्यार्थियों में भाषा-सहित्य का संस्का उत्पन्न करने के साथ ही उनके व्यक्तित्व-निर्माण में भी सहयक हो सकें.

काशी विद्यापीठ
वाराणसी ।

उमाशंकर शर्मा

विषय-क्रम
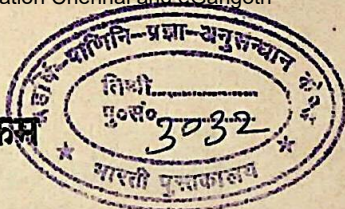
१. बौद्धकालीन भारत के विश्वविद्यालय [महावीर प्रसाद द्विवेदी] १
२. दो-दो बातें [अयोध्यासिंह उपाध्याय] ११
३. भगवान् श्रीकृष्ण [पद्मसिंह शर्मा] १५
४. मित्रता [रामचंद्र शुक्ल] २२
५. शरणागत [वृन्दावनलाल वर्मा] ३०
६. कालिदास और शिक्षण समस्या [बलदेव उपाध्याय] ४०
७. कठोर कृपा [काका कालेलकर] ४७
८. सूरदास [श्यामसुन्दर दास] ५२
९. ब्रह्मचर्य [महात्मा गांधी] ५९
१०. मुगलों ने सल्तनत बख्श दी [भगवतीचरण वर्मा] ६५
११. वैदिक उपदेश [लल्ली प्रसाद पांडेय] ७६
१२. विश्वकवि रवीन्द्र [गुलाबराय] ८४
१३. शिवाजी का सच्चा स्वरूप [सेठ गोविंद दास] ९२
१४. आप क्या करते हैं ? [जैनेंद्र कुमार] ९८
१५. बद्रीनाथ की यात्रा [महादेवी वर्मा] ११०

———
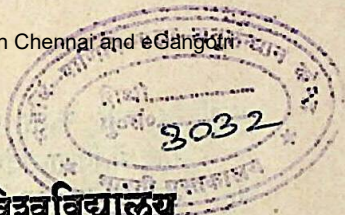
बौद्धकालीन भारत के विश्वविद्यालय

[श्री पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी]

बौद्धकाल तीन युगों में बाँटा जा सकता है। पहला युग गौतम बुद्ध के समय से शुरू होता है और पाँच सौ वर्ष तक रहता है। इस युग के बौद्ध साधुचरित्र और सच्चे त्यागी होते थे। दूसरा युग ईसवी सन् के साथ प्रारम्भ होता है और ईसा की छठीं शताब्दी में समाप्त हो जाता है। इस युग के बौद्धों ने पहले युग के गुण अक्षुण्ण रखने के साथ-साथ शिल्पकला में भी अच्छी उन्नति की थी। सातवीं शताब्दी से तीसरा युग लगता है। उसे तान्त्रिक युग भी कह सकते हैं। इसमें बौद्ध महन्तों के चरित्र बिगड़ने लगे थे और पहले की जैसी त्यागशीलता जाती रही थी। परन्तु उन लोगों ने आयुर्वेद और रसायनशास्त्र में खूब उन्नति की थी। उनमें से प्रत्येक युग के विशेषत्व की छाप उस समय के विश्वविद्यालयों में अच्छी तरह पाई जाती है।

तक्षशिला का विश्वविद्यालय

पहले युग का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय तक्षशिला नगर में था। यह नगर वर्तमान रावलपिण्डी के पास था। सुत्त और विनय-पिटक आदि प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में इसका कई जगह उल्लेख पाया जाता है। प्राचीन काल में यह एक अत्यन्त विख्यात नगर था। एरियन, स्ट्रावो, प्लीनी आदि प्राचीन लेखकों ने इस नगर की विशालता और वैभव सम्पन्नता की प्रशंसा जी खोलकर की है। अशोक के राजत्वकाल में उसका

प्रतिनिधि यहाँ रहता था। बौद्धग्रंथों से पता लगता है कि यह अपने समय में विद्या-संबंधी चर्चा और पठन-पाठन का केन्द्र था। यह विश्वविद्यालय बुद्ध के पहले ही स्थापित हो चुका था। इसमें वेद, वेदाङ्ग-उपाङ्ग आदि के सिवा आयुर्वेद, मूर्त्तिकारी, चित्रकारी, गृह-निर्माण-विद्या आदि भी पढ़ाई जाती थी।

विज्ञान, कला-कौशल और दस्तकारी के सब मिलाकर कोई अट्ठारह विषय पढ़ाये जाते थे। इनमें से प्रत्येक विषय के लिए अलग-अलग विद्यालय बने हुए थे और भिन्न-भिन्न विषयों को भिन्न-भिन्न अध्यापक पढ़ाते थे। जगद्विख्यात संस्कृत-वैयाकरण पाणिनी और राजनीति-शिरोमणि चाणक्य ने इसी विश्व-विद्यालय में शिक्षा पाई थी। आत्रेय वैद्यक शास्त्र के यहाँ अध्यापक थे। मगध-नरेश बिम्बसार के दरबारी चिकित्सक और महात्मा बुद्ध के प्रिय मित्र तथा मतानुयायी वैद्यराज जीवक ने तक्षशिला ही के अध्यापकों से चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया था। विनयपिटक में महावग्ग नामक एक प्रकरण है जिससे प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली का अच्छा पता लगता है। कई वर्ष अध्ययन करने के बाद एक शिष्य ने अपने उपाध्याय से पूछा कि शिक्षा समाप्त होने में अभी कितने दिन बाकी हैं। उपाध्याय ने उत्तर में कहा कि तक्षशिला के चारो तरफ एक योजन भूमि में, जड़ी-बूटियों के सिवा जितने व्यर्थ पौधे मिलें उन सबको जमा करो। बेचारे विद्यार्थी ने नियत स्थान के प्रत्येक पौधे की परीक्षा की, किन्तु उसे कोई भी व्यर्थ पौधा न मिला। शिक्षक महाशय ने अपने परिश्रमी विद्यार्थी की खोज का हाल सुना तो बड़े प्रसन्न हुए और उससे बोले कि तुम्हारी शिक्षा समाप्त हो गई, अब तुम अपने घर जाओ।

तक्षशिला वैदिक-धर्मावलंबियों की विद्या का केंद्र-स्थान

था, पर बौद्ध-धर्म्म का प्रचार होने पर वहाँ बौद्ध लोग भी पढ़ने-पढ़ाने लगे थे। यहाँ से कई बौद्ध विद्यार्थी ऐसे निकले जो समय पाकर, खूब विख्यात हुए। बौद्धधर्म के सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के स्थापक कुमारलब्ध भी इन्हीं में से थे। इनके विषय में हुएनसांग लिखते हैं, "सारे भारत के लोग उनसे मिलने आते थे। वे नित्य बत्तीस हजार शब्द बोलते और बत्तीस हजार अत्तर लिखते थे। उस समय पूर्व में अश्वघोष, दक्षिण में देव, पश्चिम में नागार्जुन और उत्तर में कुमारलब्ध अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् थे। ये चारों परिडत संसार को प्रकाशित करनेवाले चार सूर्य कहलाते हैं।"

जिस समय तक्षशिला में वैदिक-धर्मावलम्बियों की प्रबलता थी उस समय तीन बातें ऐसी थीं जिनको यहाँ पर लिख देना हम उचित समझते हैं। एक तो यह कि उस समय की शिक्षा-प्रणाली नियम-बद्ध विश्वविद्यालय जैसी न थी; किन्तु ऐसी थी जैसी कि वर्तमान काल में बनारस की है। पर बौद्ध-विहारों की पढ़ाई इससे ठीक उलटी थी। वहाँ की शिक्षा-प्रणाली वैसी ही थीं जैसी नियमबद्ध विश्वविद्यालयों की होनी चाहिये। दूसरी बात यह कि बौद्ध-विहारों की तरह यहाँ पर केवल संन्यासियों ही को शिक्षा नहीं दी जाती थी; किंतु गुरु और शिष्य दोनों ही गृहस्थ होते थे। यह बात जातक की एक कहानी से और भी स्पष्ट हो जाती है। एक ब्राह्मण ने अपने पुत्र से पूछा कि तुम कैसा जीवन बिताना चाहते हो। यदि तुम ब्राह्मण-राज्य में प्रवेश करना चाहते हो तो वन को जाओ और वहाँ अग्निहोत्र करो। यदि गृहस्थ बनना चाहते हो तो तक्षशिला जाकर किसी विख्यात पंडित से विद्याध्ययन करो, जिसमें सुख-पूर्वक गृहस्थ जीवन बिता सको। पुत्र ने उत्तर दिया—"मैं

वानप्रस्थ बनना नहीं चाहता; मेरी इच्छा गृहस्थ बनने की है।" तक्षशिला के वैदिक विद्यालयों में ध्यान देने योग्य तीसरी बात यह थी कि उनमें केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय बालक ही भर्ती किये जाते थे।

नालन्द का विश्वविद्यालय

बौद्ध काल के दूसरे युग में सबसे बड़ा विश्वविद्यालय नालंद में था। यह स्थान मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह से सात मील उत्तर की ओर और पटना से चौंतीस मील दक्षिण की ओर था। आजकल इस जगह पर 'बार गाँव' नामक ग्राम बसा हुआ है ज़ो गया जिले के अंतर्गत है। नालंद की प्राचीन इमारतों के खँडहर यहाँ अभी तक पाये जाते हैं। सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध चीनी-यात्री हुएनसांग ने नालंद की शान व शौकत का बड़ा ही मनोहर वृत्तान्त लिखा है। चीन में ही उसने नालंद का हाल सुना था; तभी से इसे देखने के लिए वह ललचा रहा था। इधर-उधर घूमते-घामते जब वह गया पहुँचा तव विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उसे नालंद में आने के लिए निमंत्रण दिया। इससे उसने अपने को धन्य समझा। नालंद में पहुँचते ही उसके दिल पर ऐसा असर पड़ा कि वह तुरंत विद्यार्थियों में शामिल हो गया।

नालन्द की बाहरी टीमटाम

विद्या-लोलुप चीनी संन्यासी नालंद की भव्यता और पवित्रता देखकर लट्टू हो गया। ऊँचे-ऊँचे बिहार और मठ चारों ओर, खड़े थे। बीच-बीच में सभागृह और विद्यालय बने हुए थे। वे सब

समाधियों, मन्दिरों और स्तूपों से घिरे हुए थे। उनके चारों तरफ़ बौद्ध-शिक्षकों और प्रचारकों के रहने के लिए चौमंजिला इमारतें वनी हुई थीं। उनके सिवा ऊँची-ऊँची मीनारों और विशाल भवनों की शोभा देखने ही योग्य थी। इन भवनों में नाना प्रकार के बहु-मूल्य रत्न जड़े हुए थे। रंग-बिरंगे दरवाजों, कड़ियों, छतों और खम्भों की सजावट को देखकर लोग लोट-पोट हो जाते। विद्या-मंदिरों के शिखर आकाश से बातें करते थे और हुएनसांग के कथनानुसार उनकी खिड़कियों से वायु और मेघ के जन्मस्थान दिखाई देते थे। मीठे और स्वच्छ जल की धारा चारों ओर बहा करती थी और सुन्दर खिले हुए कमल उसकी शोभा बढ़ाया करते थे।

नालंद का आन्तरिक जीवन

विशालता, नियम-वद्धता और सुप्रवंध के विचार से नालंद का विश्वविद्यालय वर्त्तमान काशी की अपेक्षा आक्सफोर्ड से अधिक मिलता-जुलता था। विश्वविद्यालय के विहारों में कोई दस हजार भिक्षु-विद्यार्थी और डेढ़ हजार अध्यापक रहते थे। केवल दर्शन और धर्मशास्त्र के ही सौ अध्यापक थे। इससे संबंध रखनेवाला पुस्तकालय नौ मंजिला था, जिसकी ऊँचाई करीब तीन सौ फीट थी। उसे महाराज बालादित्य ने बनवाया था। इसमें बौद्ध-धर्म संबंधी सभी ग्रन्थ थे। प्राचीन काल में इतना बड़ा पुस्तकालय शायद ही कहीं रहा हो।

दुनिया में आजकल जितने विश्वविद्यालय हैं उन सबमें विद्या-र्थियों से फीस ली जाती है, पर नालंद के विश्वविद्यालय की दशा उससे ठीक उल्टी थी। केवल यही नहीं कि विद्यार्थियों से कुछ न लिया जाता था, अपितु उन्हें प्रत्येक आवश्यक वस्तु मुफ्त दी जाती

थी। अर्थात् भोजन, वस्त्र, औषध, निवासस्थान आदि सब कुछ संत-मेंत मिलता था। यह प्रथा हिन्दुस्तान में बहुत प्राचीन काल से चली आई है। गृहस्थ लोग गाँव, खेत, बाग, वस्त्र अथवा नगद रुपये इन विद्यालयों को दान करते थे। इसी से उनका सम्पूर्ण खर्च चलता था। इस प्रकार विद्यार्थियों का बहुत समय और मानसिक शक्ति पेटपूजा के लिए धनोपार्जन करने में नष्ट होने से बच जाती और वे इस समय और शक्ति को विद्याध्ययन में लगाते थे। इसका फल यह होता कि गंभीर विचार वाले मननशील विद्वान् इन विद्यालयों से निकलते थे। इसी से वे लोग बौद्ध धर्म, संस्कृत साहित्य और संसार का अनंत उपकार कर गए हैं।

नालंद के विश्वविद्यालय में आजकल की तरह परिक्षाएँ न होती थीं, किंतु विद्यार्थियों की योग्यता शास्त्रार्थ द्वारा जाँची जाती थी। विद्यालय में भर्ती होने के नियम भी बड़े कड़े थे। जो लोग दाखिल होने के लिए आते थे उनसे द्वार-पण्डित कुछ कठिन प्रश्न करता था, यदि वे उनका उत्तर दे सकते थे तो भीतर जाने पाते थे, नहीं तो लौट जाते थे। इसके बाद शास्त्रार्थ के द्वारा उनकी योग्यता की परीक्षा ली जाती थी। जो उसमें भी अपनी योग्यता प्रमाणित कर सकते थे वही विद्यालय में दाखिल हो सकते थे। बाकी अपना सा मुँह लेकर अपना रास्ता लेते थे। मतलब यह कि अच्छे बुद्धिमान, विद्वान् योग्य और गुणवान मनुष्य ही विद्यालय में प्रवेश करते थे।

द्वार-पण्डित के पद पर वही नियत किया जाता था जो ऊँचे दर्जे का विद्वान् होता था। यह पद उस समय बहुत प्रतिष्ठित समझा जाता था। विश्वविद्यालय के सभागृह में सबेरे से शाम तक शास्त्रार्थ हुआ करता था। दूर-दूर के देशों से पण्डित अपनी शंकाएँ दूर करने के लिए वहाँ आते थे। नालंद के

विद्यार्थियों का देश भर में आदर, सत्कार-सम्मान होता था। वे लोग जहाँ जाते थे वहीं उनकी इज्जत होती थी। यों तो नालंद विश्वविद्यालय के प्रायः सभी अध्यापक उत्कृष्ट विद्वान् थे, पर उनमें से नौ मुख्य थे। हुएनसांग ने उनकी सीमारहित विद्वत्ता, योग्यता, देशव्यापी ख्याति, अद्भुत प्रतिभा-शालिता की खूब प्रशंसा की है। उन नवों अध्यापकों के नाम ये हैं—धर्मपाल, चन्द्रपाल गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचंद्र, शीघ्रबुद्धि और शीलभद्र। इनमें से शीलभद्र, हुएनसांग के समय में विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे। बौद्धधर्म के महायान संप्रदाय के जगद्विख्यात संस्थापक नागार्जुन का सम्बन्ध भी किसी समय नालंद विश्वविद्यालय से था।

नालंद के प्रायः सभी अध्यापक और विद्यार्थी धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे। असल में धार्मिक जीवन बिताने के लिए ही इसकी सृष्टि हुई थी, इसीलिए इसका नाम 'धर्मगंध' पड़ा था। परंतु पीछे इसकी काया पलट गई थी। दर्शन और धर्मशास्त्र के साथ-साथ व्याकरण, ज्योतिष, काव्य, वैद्यक आदि व्यावहारिक और सांसारिक विद्याएँ भी पढ़ाई जाने लगी थीं। तमाम हिंदुस्तान के विद्यार्थी इन विद्याओं को पढ़ने के लिए यहाँ आते थे।

श्री धन्यकटक का विश्वविद्यालय

इस युग का दूसरा प्रसिद्ध विश्वविद्यालय श्री धन्यकटक में था। यह स्थान दक्षिण भारत में कृष्णा नदी के किनारे वर्तमान अमरावती के स्तूपों के निकट था।

बौद्धधर्म के महायान संप्रदाय के चौदहवें धर्मगुरु, विख्यात रसायनशास्त्रवेत्ता और चिकित्सक नागार्जुन के समय में यह खूब उन्नत दशा में था और देश-देशांतरों में प्रसिद्ध हो गया था।

चीनी यात्री इत्सिग के कथनानुसार नागार्जुन महाशय ईसा की चौथी शताब्दी में थे। यहां पर वैदिक और बौद्ध दोनों प्रकार के ग्रंथ पढ़ाए जाते थे। तिब्बत की राजधानी लासा के निकट डायंग विश्वविद्यालय इसी के नमूने पर बनाया गया था। पठन-पाठन विधि वहाँ भी वैसी ही थी जैसी कि नालंद में।

ओदन्तपुरी, विक्रमशिला के विश्वविद्यालय

यह हम लिख चुके हैं कि बौद्धकाल का तीसरा युग सातवीं शताब्दी से प्रारंभ होता है। इस समय के बौद्ध महंतों में पहले का जैसा धार्मिक उत्साह बाकी न था, परंतु वैज्ञानिक खोज करने का जोश खूब बढ़ गया था। वैद्यक और रसायन-शास्त्र में उन लोगों ने अच्छी उन्नति की थी। इस तांत्रिक बौद्ध धर्म का प्रचार बंगाल और बिहार में बहुत था। उन दिनों मगध में पालवंश के राजा राज्य करते थे। उन्हीं के समय में बौद्ध उपदेशकों ने तिब्बत जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया; इनमें दो मुख्य विश्वविद्यालय थे, एक ओदंतपुरी में दूसरा विक्रमशिला में। ये दोनों स्थान बिहार प्रान्त में हैं। मगध में पालवंश का राज्य होने के बहुत दिन पहले ओदंतपुरी में एक बड़ा भारी विहार बनाया गया था। इसी विहार के नाम पर पूरे प्रान्त का नाम बिहार पड़ गया और पुराना नाम मगध लुप्त हो गया। महाराज महीपाल के पुत्र महापाल के समय में ओदंतपुरी विश्वविद्यालय में बौद्धधर्म के हीनयान संप्रदाय के एक हजार और महायान संप्रदाय के पाँच हजार महंत रहते थे। पालवंश के राजाओं ने ओदंतपुरी विश्वविद्यालय में एक बड़ा भारी पुस्तकालय स्थापित किया। उसमें वैदिक और बौद्ध दोनों प्रकार के हजारों ग्रंथ थे। श्री धन्यकटक विश्वविद्यालय की तरह ओदंतपुरी के नमूने पर तिब्बत में भी शाक्य नामक एक विश्वविद्यालय खोला गया था।

पाल राजे बड़े ही विद्या-रसिक और विद्वानों के संरक्षक थे। उनका संबंध एक और विश्वविद्यलय से भी था। उसका नाम था विक्रमशिला। यह विश्वविद्यालय भागलपुर जिले के अंतर्गत सुलतानगंज गाँव के निकट, गंगा के दाहिने किनारे एक पहाड़ी की चोटी पर था। इसमें सब मिलाकर कोई एक सौ आठ भवन थे। इस विश्वविद्यालय के अधीन छः महाविद्यालय थे, जिनमें एक सौ साठ पण्डित पढ़ाते थे। इन सब पण्डितों तथा अन्य अतिथि विद्वानों का खर्च पूर्वोक्त महाराज के दिए हुए गाँवों की आमदनी से चलता था। बीच का भवन विज्ञान-मंदिर के नाम से विख्यात था। उसमें विहार के महंत उन पंडितों से बौद्धग्रंथ पढ़ते थे जो विश्वविद्यालय के प्रथम और द्वितीय स्तम्भ कहलाते थे। राजा जयपाल के शासनकाल में विश्वविद्यालय की देख-भाल के लिए छः द्वारपंडित नियत थे। इसी समय महात्मा जेतारि ने एक सत्र स्थापित किया था। उनमें विक्रमशिला के विद्यार्थियों को मुफ्त भोजन मिलता था। विद्यालय के स्थायी विद्यार्थियों को भोजन देने के लिए चार सत्र पहले ही से थे। इनके सिवा वारेंद के अधीश महाराज सनातन ने दसवीं शताब्दी के आदि में एक सत्र और भी खोला था। विश्वविद्यालय के प्रबंध के लिए छः विद्वानों की एक सभा थी, जिसका सभापति सदा राजपुरोहित होता था। महाराज धर्मपाल के समय में अध्यक्ष के पद पर श्री बुद्धज्ञान पादाचार्य नियुक्त थे। ग्यारहवीं शताब्दी में इस पद पर श्रीयुत दीपङ्कर नियत थे। अपने समय के ये बड़े विख्यात विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता की प्रशंसा सुनकर तिब्वत वालों ने इन्हें अपने यहाँ बुलवाया था। इस विश्वविद्यालय से पढ़कर जो विद्यार्थी निकलते थे उनको पंडित की पदवी दी जाती थी। अपने समय के सबसे बड़े नैयायिक पंडित जेतारि ने इसी

विश्वविद्यालय से पंडित की पदवी और राजा महापाल का हस्ताक्षरित प्रमाण पत्र पाया था। महाराज उनकी गहरी विद्वता से इतने प्रसन्न हुए थे कि उन्होंने उनको द्वार-पंडित के प्रतिष्ठित पद पर नियत किया था। बाद में काश्मीर-निवासी रत्नवज्र नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् ने भी यहाँ से पंडित की पदवी और राजा चणक का हस्ताक्षरित प्रमाण-पत्र पाया था। इस विश्वविद्यालय में व्याकरण, अभिधर्म, दर्शनशास्त्र, विज्ञान, वैद्यक आदि कई विषय पढ़ाए जाते थे। तिब्बत के लामा विक्रमशिला में आते थे और वहाँ के पंडितों की सहायता से संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा में करते थे।

दो-दो बातें

[अयोध्यासिंह उपाध्याय]

कोई दिन था कि हम कुछ थे, कुछ नहीं, बहुत कुछ थे, देवता हमारा मुँह जोहते थे, स्वर्ग में हमारी धूम थी। हम आसमान में उड़ते, समुद्रों में छलांगते, जंगलों को खंगालते और पहाड़ों को हिला देते थे। दुनियाँ में हमारे नामलेवा थे देश-देश में हमारी धाक थी, दिशाएँ हमारी जोत से जगमगाती थीं और आसमान के तारे हमें आँख फाड़-फाड़ कर देखते थे। हम अन्धकार में उजाला करते थे, बन्द आँखों को खोलते थे, सोते को जगाते थे और उकठ काठ को भी हरा-भरा कर देते थे। सूरमापन हम पर निछावर होता था, दिलेरी हमारे बाँटे पड़ी थी, बहादुरी हमारा दम भरती थी और आन-बान हमारा बाना था। हम बे-जान में जान डालते थे, सूखी नसों में लहू भरते थे, बिगड़ों को बनाते थे, गिरों को उठाते थे, बे-जड़ों की जड़ जमाते और भूले को राह पर लगाते थे, बड़े-बड़े अठकलापी-पन भूल जाते थे। हमारा तेवर बदलते ही बेतरह आँख बदलने वाले राजा-महाराजों का रंग बदल जाता था और दुनियाँ में हवा बाँधने वालों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगती थीं। आज यह बातें मुँह पर नहीं लाई जा सकती हैं। अब हमारा रंग इतना बढ़ गया है कि हम पहचाने भी नहीं जा सकते। हमीं लोगों में ऐसे हैं जो यह जानते ही नहीं कि हम क्या और कौन थे और अब क्या हो गये? इसमें न किसी का जादू काम कर रहा है और न किसी का टोना, न दैव हमारे पीछे पड़ा है न बुरा भाग। जो कुछ हम

भोग रहे हैं वे हमारी करतूतों के फल हैं और आज भी वे हमें रसातल को ले जा रही हैं।

आज हमारे सिर-धरों का ही सिर नहीं फिर गया है, आगे चलने वाले भी आग लगा रहे हैं। भगवा पहनने वाले भी भाँग खाये बैठे हैं। जिनको वीर होने का दावा है, वे भाइयों की मूँछें उखाड़ कर मूँछें मरोड़ रहे हैं, दूसरों के घर मूसकर अपना घर भर रहे हैं, औरों के लोहू से हाथ रंगकर अपना हाथ गरम कर रहे हैं, सगों का पेट काटकर अपना पेट पाल रहे हैं। पूँजी वालों का पेट दिन-दिन मोटा हो रहा है, पर किसी लटे पेट वाले को देखते ही उनकी आँखों पर पट्टी बँध जाती है। (सण्डे-मुसण्डे डण्डे के बल माल भले ही चबा लें, पर भूख से जिनकी आँखें नाच रही हैं, उनको वे कानी कौड़ी भी देने के रवादार नहीं। जो हमारा मुख देखकर जीते हैं हम उन्हीं को निगल रहे हैं और जो हमारे भरोसे पाँव फैला कर सोते हैं, हम उन्हीं को आँखें बन्द करके लूट रहे हैं। हमीं में डूबकर पानी पीने वाले हैं, आँख में उँगली करनेवाले हैं, खड़े बाल निगलने वाले हैं, आग लगाकर पानी को दौड़ने वाले हैं, रंगे सियार हैं और काठ के उल्लू हैं।)

आज हमारे घरों में फूट पाँव तोड़ कर बैठी है, बैर अकड़ा हुआ खड़ा है, अनबन की बन आई है और रगड़े-झगड़े गुल-छर्रे उड़ा रहे हैं। हमसे लम्बी-लम्बी बातें सुन लो, लेकिन लम्बी तानकर सोना ही हमें पसन्द है। आँख होते हुए भी हमें सूझता नहीं, कान होते हम सुनते नहीं, हाथ होते हम बे-हाथ हैं और पाँव होते बे-पाँव। समझ चल बसी, विचारों का दिवाला निकल गया, आस पर ओस पड़ गयी, सूझ को पाला मार गया, मगर कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। बेटियाँ बिक रही हैं, माँ-बहिनें लुट रही हैं, जोरू पिस रही हैं मगर हमें दाँत पीसना

भी नहीं आता। दूसरे धूल में फूल उड़ाते हैं, हमें फूल में भी धूल हाथ आती है। लोग काँटों में फूल चुनते हैं, हम काँटों में उलझ-उलझ कर मरते हैं। आबरू उतर गई, पत-पानी चला गया, बड़ाई धूल में मिल गयी, मगर हम धूल फाँकने में ही मस्त हैं।

हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर काम आँखों के तारे भी नहीं देते। हम पर लगाकर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव भी नहीं उठते। हम पालिसी पर पालिसी करके उसके रंग को छिपाना चाहते हैं पर हमारी यह पालिसी हमारे बने हुए रंग को भी बदरंग कर देती है। हम राग अलापते हैं मेल-जोल का, मगर न जाने कहाँ का खटराग पेट में भरा पड़ा है। हम जाति को मिलाने चलते हैं, मगर ताव अछूतों से आँख मिलाने को भी नहीं। हम जाति-हित के ताने सुनने के लिए सामने आते हैं मगर ताने दे दे करेजा छलनी बना देते हैं। हम कुल हिंदू जाति को एक रंग में रंगना चाहते हैं, मगर जाति-जाति की अपनी-अपनी डफली और अपने-अपने राग ने रही-सही को धता बता दिया है। हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मुँह के बल गिर पड़ते हैं। हमें देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते हैं जाति की कसर निकालना, मगर हमारे जी की कसर निकालने पर भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊँचा उठाना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमें मर-मिटना आता ही नहीं।

हिन्दू जाति अपनी भूल-भुलैया में बेतरह फँसी है, इससे हमारा जी दुःखी है, हमारा कलेजा चोट खा रहा है, दिल में फफोले पड़ रहे हैं। जितनी ही जल्दी हिंदुओं की आँखें खुलें उतना ही अच्छा। हमें उनका जी दुखाना, उन्हें कोसना, उन्हें

बनाना, उन्हें खिलाना, उनकी उमँगों को मटिया-मेट करना पसन्द नहीं। अपने हाथ से अपने पाँव में कुल्हाड़ी कौन मारेगा, अपनी उँगलियों से अपनी आँखों को कौन कुचलेगा। मगर अपनी बुराइयों, कमजोरियों, भूल-चूकों एवं लापरवाहियों और नासमझियों पर अपनी आँख डालनी पड़ेगी, बिना इसके निर्वाह नहीं।

—❀—

भगवान श्रीकृष्ण

[पद्मसिंह शर्मा]

पांच हज़ार वर्ष बीते भगवान श्रीकृष्ण आनंदकंद इस धरा-धाम पर अवतीर्ण हुए थे। जन्माष्टमी का शुभ पर्व प्रतिवर्ष इसी चिरस्मरणीय घटना की याद दिलाता है। आर्य जाति बड़ी श्रद्धा-भक्ति से यह परम-पावन पर्व मनाती है। विश्व की उस अलौकिक विभूति के गुण-कीर्तन से करोड़ों आर्यजन अपने हृदय को पवित्र बनाते हैं, अपनी वर्तमान अधोगति में, निराशा के इस भयानक अन्धकार में, उस दिव्य-ज्योति को ध्यान की दृष्टि से देखकर सन्तोष लाभ करते हैं। आज दुःख-दावानल से दग्ध भारत-भूमि घनश्याम की अमृत वर्षा की बाट जोहती है। दुःशासन प्रपीड़ित प्रजा-द्रौपदी रक्षा के लिये कातर स्वर में पुकारती है। धर्म अपनी दुर्गति पर सिर धुनता हुआ 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' की याद दिलाकर प्रतिज्ञाभंग की नालिश कर रहा है। जाति-जननी अत्याचार-कंस के कष्ट-कारागार में पड़ी दिन काट रही है, गौएँ अपने गोपाल की याद में प्राण दे रही हैं, जान गवाँ रही हैं। इस प्रकार 'भगवान्' के जन्म के दिन का शुभ अवसर भी हमें अपनी मौत की मर्सिया ही सुनाने को मजबूर कर रहा है। आनन्द बधाई के दिन भी हम अपना ही दुखड़ा रो रहे हैं, विधि की विडम्बना से 'प्रभाती' के समय 'विहाग' अलापना पड़ रहा है। संसार की अनेक जातियाँ क्षुद्र और बहुधा कल्पित आदर्शों के सहारे उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो गयी

हैं और हो रही हैं। उत्तम आदर्श उन्नति का प्रधान अवलम्ब है। अवनति के गर्त में पतित जाति के लिये तो आदर्श ही उद्धार-रज्जु है। आर्य जाति के लिए आदर्शों का अभाव नहीं है, सब प्रकार के एक से एक बढ़कर आदर्श सामने हैं। संसार की अन्य किसी जाति ने इतने आदर्श नहीं पाये, फिर भी इतने महत्वशाली आदर्श पाकर भी आर्य जाति क्यों नहीं उठती? यही नहीं, कभी-कभी तो 'आदर्शवाद ही दुर्दशा का कारण बन जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण संसार भर के आदर्शों में सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण आदर्श हैं। इसी कारण हिन्दू उन्हें सोलह कला सम्पूर्ण अवतार 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' मानते हैं। अवतार न माननेवाले भी उन्हें आदर्श योगिराज, कर्मयोगी, सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कहते हैं। मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने के लिए जो आदर्श अपेक्षित हैं वह सब स्पष्ट रूप में प्रचुर परिमाण में श्रीकृष्ण-चरित्र में विद्यमान हैं। ध्यानी, ज्ञानी, भोगी, कर्मयोगी, नीतिधुरन्धर, नेता और महारथी योद्धा जिस दृष्टि से देखिये, जिस कसौटी पर कसिये श्रीकृष्ण अद्वितीय ही प्रतीत होंगे। संस्कृत भाषा का साहित्य कृष्ण-चरित्र महिमा से भरा पड़ा है। पर दुर्भाग्य से हम उसके तत्व को हृदयङ्गम नहीं करते। हम 'आदर्श' का अनुकरण नहीं करना चाहते उल्टा उसे अपने पीछे घसीटना चाहते हैं और यही हमारी अधोगति का कारण है। यदि हम कर्मयोगी भगवान् श्रीकृष्ण के आदर्श का अनुकरण करते तो आज इस दयनीय दशा में न होते।

महाभारत के श्रीकृष्ण को भूलकर गीतगोविन्द के श्रीकृष्ण का काल्पनिक चित्र निर्माण करके उस आदर्श महापुरुष को चोर-बाजार शिखामणि की उपाधि दे डाली है। पतन की पराकाष्ठा है। कृष्ण-चरित्र के सर्वश्रेष्ठ लेखक श्री बंकिमचन्द्र ने एक जगह

खिन्न होकर लिखा है—"जब से हम हिन्दू अपने आदर्श को भूल गये और हमने कृष्ण-चरित्र को अवनीत कर लिया तब से हमारी सामाजिक अवनति होने लगी। गीतगोविन्द-रचयिता जयदेव के कृष्ण की नकल सब करने लग गये. 'महाभारत' के श्रीकृष्ण को कोई याद भी नहीं करता।"

श्रीकृष्ण को हिन्दू जाति क्या समझ वैठी है, इसका उल्लेख श्री बङ्किम ने इस प्रकार किया है, पर अब प्रश्न यह है कि भगवान को हम लोग क्या समझते हैं? यही कि बचपन में चोर थे, दूध-दही, मक्खन चोरी कर खाया करते थे, प्रौढ़ावस्था में वञ्चक और शठ थे। उन्होंने धोखा देकर द्रोणादि के प्राण लिए। क्या इसी का नाम मानव-चरित्र है? जो केवल शुद्ध सत्य है, जिससे सब प्रकार की शुद्धियाँ होती हैं और पाप दूर होते हैं, उसका मनुष्य देह धारण कर समस्त पापाचरण करना क्या भगवच्चरित है।

सनातनधर्म द्वेषी कहा करते हैं कि भगवच्चरित की ऐसी कल्पना करने के कारण ही भारतवर्ष में पाप का स्रोत बढ़ गया है, इसका प्रतिवाद कर किसी को कभी जय प्राप्त करते नहीं देखा है। मैं (बङ्किमचन्द्र) श्रीकृष्ण को स्वयम् भगवान् मानता हूँ और उन पर विश्वास करता हूँ। अंग्रेजी शिक्षा से मेरा वह विश्वास और भी दृढ़ हो गया है। पुराणों और इतिहास का मन्थन किया इसका फल यह हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्र के विषय में जो पाप-कथाएँ प्रचलित हैं, वह अमूलक जान पड़ीं। उपन्यासकारों ने श्रीकृष्ण के विषय में जो मनगढ़न्त बातें लिखी हैं उन्हें निकाल देने पर जो कुछ बचता है वह अति विशुद्ध, परम पवित्र, अतिशय महान मालूम हुआ है। मुझे यह भी मालूम हो गया है कि ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्व

पापरहित आदर्श-चरित और कहीं नहीं है, न किसी देश के इतिहास और न किसी काव्य में।

श्रीकृष्ण-चरित्र का मनन करनेवालों को श्री बङ्किमचन्द्र की उक्त सम्मतियों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण के चरित्र का रहस्य अच्छी तरह समझ कर उसके आचरण पर यदि हम अपने जातीय जीवन का निर्माण करें तो संकट दूर हो जाएँ। उदाहरण के तौर पर नेताओं को लीजिए। आजकल हमारे देश में नेताओं की बाढ़ आई हुई है। जिसे देखिये वही सार्वभौम नेता नहीं तो आल-इण्डिया लीडर है। इस बाढ़ को देखकर चिंता के स्वर में कहना पड़ता है :—

लीडरों की धूम है और फालोअर कोई नहीं।

सब तो जनरल हैं यहाँ, आखिर सिपाही कौन है? पर उनमें कितने हैं जिन्होंने नेता श्रीकृष्ण के आदर्श चरित्र से शिक्षा ग्रहण की है? नेता नितान्त निर्भय, परम विज्ञ और विचारों का शुद्ध होना चाहिए। ऐसा कि संसार की कोई विपत्ति या प्रलोभन उसे किसी दशा में भी अपने व्रत से विचलित न कर सके।

महाभारत के युद्ध की पूरी तैयारियाँ हो चुकी हैं, सन्धि के सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं, धर्मराज युधिष्ठिर का सदय हृदय युद्ध के अवश्यम्भावी दुष्परिणाम सोचकर विचलित हो रहा है इस दशा में भी वह सन्धि के लिए व्याकुल हैं। बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है। श्रीकृष्ण स्वयम् सन्धि के पक्ष में थे, सन्धि का प्रस्ताव लेकर उन्होंने स्वयं ही दूत बनकर जाना उचित समझा। दुर्योधन जैसे स्वार्थान्ध, कपट-कुशल और 'जीते जुआरी' के दरबार में ऐसे अवसर पर दूत बनकर जाना जान से हाथ धोना, धहकती हुई आग में कूदना था। श्रीकृष्ण के दूत वनकर जाने के प्रस्ताव पर सहसा कोई सहमत न

हुआ। दुर्योधन की कुटिलता और क्रूरता के विचार से श्रीकृष्ण का वहाँ जाना किसी ने उचित न समझा। इस पर बहुत वाद-विवाद हुआ। उद्योग पर्व का वह प्रकरण 'मगवघान पर्व' बड़ा अद्‌भुत और हृदयहारी है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण के सन्धि-प्रस्ताव के ले जाने का वर्णन है। श्रीकृष्ण जानते थे कि सन्धि के प्रस्ताव में सफलता न होगी, दुर्योधन किसी की मानने वाला जीव नहीं, यात्रा आपज्जनक है, प्राण-संकट की आशंका है, पर कर्त्तव्यानुरोध से जान पर खेल कर भी उन्होंने वहाँ जाना ही उचित समझा।

दुर्योधन को जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं, तब उसने श्रीकृष्ण को साम, दाम, दण्ड, भेद द्वारा जाल में फँसाने का कोई उपाय उठा न रखा। मार्ग में जगह-जगह उनके स्वागत का धूम-धाम से प्रबन्ध किया गया, रास्ते की सड़कें खूब सजायी गयीं। दुर्योधन जानता था कि सब कुछ श्रीकृष्ण के हाथ में है। जो वो चाहेंगे, वही होगा। उनकी आज्ञा से पाण्डव अपना सर्वस्व त्याग कर सकते हैं, श्रीकृष्ण को काबू कर लिया जाय तो बिना युद्ध की विजय हो सकती है, श्रीकृष्ण के बल-बूते पर ही पांडव युद्ध के लिए सन्नद्ध हो रहे हैं। निदान दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को फँसाने की प्राणपण से चेष्टा की। पर अच्युत श्रीकृष्ण अपने लक्ष्य से कब चूकने वाले थे। सन्धि का प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ, कर्ण, शकुनि अपने साथियों के साथ दुर्योधन सभा से उठकर चला गया। जब उसने साम, दाम से काम बनते न देखा तब आवश्यक दण्ड देने—कैद कर लेने का षड़यंत्र रचा, उन्हें घर निमन्त्रित किया। दुर्योधन की इस दुरभिसन्धि को विदुर आदि दूरदर्शी ताड़ गये, उन्होंने श्रीकृष्ण को वहाँ जाने से रोका। श्रीकृष्ण स्वयं भी सब कुछ समझते थे, पर

वो जिस काम को आये थे उसके लिये फिर एक वार प्राण-पण से प्रयत्न करना ही उचित समझा। वह दुर्योधन के घर पहुँचे. निर्भयतापूर्वक सन्धि का औचित्य समझाया। पाण्डवों की निर्दोषिता और दुर्योधन का अन्याय प्रमाणित किया। पर दुर्योधन किसी तरह न माना। श्रीकृष्ण उसे फटकार कर चलने लगे इस पर जो उचित उत्तर भगवान ने दिया, वह उन्हीं के योग्य था कहा—

सप्रीतिभोज्यान्यन्नानि ह्यापद्भोज्यानि वा पुनः।
न च संप्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

अर्थात्—या तो प्रीति के कारण किसी के यहाँ भोजन किया जाता है, या फिर विपत्ति में, दुर्भिक्षादि संकट में। तुम हमसे प्रेम नहीं करते और हम पर कोई ऐसी आपत्ति नहीं आयी है. ऐसी दशा में तुम्हारा भोजन कैसे स्वीकार करें।

इस प्रत्याख्यान से क्रुद्ध होकर दुर्योधन ने उन्हें घेर कर पकड़ना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक तेज और दिव्य पराक्रम ने उसे परास्त कर दिया, वह अपनी धृष्टता पर लज्जित होकर रह गया। हमारे लीडर लोग भगवान् के इस आचरण से शिक्षा ग्रहण करें तो उनका और लोक का कल्याण हो।

पाण्डव और कौरव दोनों ही श्रीकृष्ण के सम्बन्धी थे। दोनों ही उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिए समान रूप से प्रयत्नशील थे। लोक-संग्रह के तत्व से भी भगवान् अनभिज्ञ न थे, उन्होंने आजकल के जमानासाज लीडरों की तरह सर्वप्रियता या हरदिल अजीजो में फँस कर अपने करारेपन में दाग नहीं लगाया। मेल-मिलाप की मोह-माया में भूलकर न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म न बताया, निरपराध को अपराधी बताकर अपनी समदर्शिता,

उदारता का परिचय नहीं दिया। श्रीकृष्ण अपने प्राणों का मोह छोड़कर दुर्योधन को समझाने गये और भयानक संकट के भय से भी कर्त्तव्य-पराङ्मुख न हुए। एक आजकल के लीडर हैं—किसी घटना को रोकने के लिए तार पर तार दिये जाते हैं, पधारने की प्रार्थना की जाती है, पर हमारी कोई नहीं सुनता कहकर टाल जाते हैं, पहुँचते भी हैं तो उस वक्त जब मार-काट हो चुकती है, सो भी सरकारी तहकीकात के लिए पहुँच जाना, लीडरों के लिए इतना ही काफी है 'गोली बीस कदम तो वन्दा तीस कदम।'

श्रीकृष्ण ने अपने सगे-सम्बन्धी, पर अन्यायी दुर्योधन का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया और एक आजकल के लीडर हैं जो हर कहीं निमन्त्रण पाने के लिए प्रयत्न में रहते हैं। आज अपमानित होकर असहयोग की घोषणा करते हैं, कल उड़ती चिड़िया के द्वारा निमंत्रण पाकर सहयोग करने दौड़ते हैं, उन्हें ही लक्ष्य करके कवि ने कहा है—

कौम के गम में डिनर, खाते हैं हुक्काम के साथ
रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ।

निस्सन्देह सभी लीडर ऐसे नहीं हैं, कुछ उसका अपवाद भी हो सकते हैं।

हमारे इस युग के लीडरों में तिलक महाराज ने श्रीकृष्ण-चरित्र के तत्व को सबसे अधिक समझा था, उनकी दृढ़ता और तेजस्विता का यही कारण भी था। महाभारत का भगवच्चरित्र उनके मन की सबसे प्रिय वस्तु थी। मालवीयजी महाराज और श्री लाला लाजपतरायजी भी श्रीकृष्ण के अनुयायी भक्तों की श्रेणी में हैं।

आर्य जाति के लीडर और शिक्षित श्रीकृष्ण-चरित्र को अपना आदर्श मानकर यदि अपने चरित्र का निर्माण करें तो देश और जाति का उद्धार करने में समर्थ हो सकेंगे। परमात्मा ऐसा ही करे।

——

मित्रता

[रामचन्द्र शुक्ल]

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकलकर बाहरी संसार में अपनी स्थिति जमाता है, तब पहली कठिनता उसे मित्र चुनने में पड़ती है। यदि उसकी स्थिति बिलकुल एकांत और निराली नहीं रहती तो उसकी जान-पहचान के लोग धड़ाधड़ बढ़ते जाते हैं और थोड़े ही दिनो में कुछ लोगों से उसका हेल-मेल हो जाता है। यही हेल-मेल बढ़ते-बढ़ते मित्रता के रूप में परिणत हो जाता है। मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है; क्योंकि संगति का लुप्त प्रभाव हमारे आचरण पर बड़ा भारी पड़ता है। हम लोग ऐसे समय में समाज में प्रवेश करके अपना कार्य आरम्भ करते हैं जबकि हमारा चित्त कोमल और हर तरह का संस्कार ग्रहण करने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक्व रहती है, अपने मनोवेगों की शक्ति और अपनी प्रकृति की कोमलता का पता हमीं को नहीं रहता। हमलोग कच्ची मिट्टी की मूर्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप का चाहे राक्षस बनावे चाहे देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिए बुरा है जो हमसे अधिक दृढ़ संकल्प के हैं; क्योंकि हमें उनकी हर एक बात बिना विरोध के मान लेनी पड़ती है। पर ऐसे लोगों का साथ करना और भी बुरा है जो हमारी ही बात को ऊपर रखते हैं; क्योंकि ऐसी दशा में न तो हमारे ऊपर कोई दाब रहता है और न हमारे लिए कोई सहारा रहता है। दोनों ही अवस्थाओं में जिस बात का भय रहता है, उसका पता युवा पुरुषों को प्रायः बहुत कम रहता है। यदि विवेक

से काम लिया जाय तो यह भय नहीं रहता; पर युवा पुरुष प्रायः विवेक से कम काम लेते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि लोग एक घोड़ा लेते हैं तो उसके गुण-दोष को कितना परख कर लेते हैं पर किसी को मित्र बनाने में उसके पूर्व आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार और अनुसंधान नहीं करते। वे उसमें सब बातें अच्छी ही अच्छी मानकर उसपर अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं। हँसमुख चेहरा, बातचीत का ढब, थोड़ी चतुराई वा साहस—ये ही दो-चार बातें किसी में देखकर लोग चटपट उसे अपना बना लेते हैं। हम लोग यह नहीं सोचते कि मैत्री का उद्देश्य क्या है तथा जीवन के व्यवहार में उसका कुछ मूल्य भी है? यह बात हमें नहीं सूझती कि यह ऐसा साधन है जिससे आत्मशिक्षा का कार्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान् का वचन है—'विश्वासपात्र मित्र से बड़ी भारी रक्षा रहती है। जिसे ऐसा मित्र मिल जाय उसे समझना चाहिये कि खजाना मिल गया।" विश्वासपात्र मित्र जीवन का एक औषध है। हमें अपने मित्रों से आशा रखनी चाहिये कि वे उत्तम संकल्पों में हमें दृढ़ करेंगे. दोषों और त्रुटियों से हमें बचावेंगे, हमारे सत्य, पवित्रता और मर्यादा के प्रेम को पुष्ट करेंगे। जब हम कुमार्ग पर पैर रखेंगे तब वे हमें सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साह होंगे तब हमें उत्साहित करेंगे; सारांश यह है कि वे हमें उत्तमतापूर्वक जीवन निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देंगे। सच्ची मित्रता में उत्तम से उत्तम वैद्य की-सी निपुणता और परख होती है। अच्छी से अच्छी माता का-सा धैर्य और कोमलता होती है। ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न प्रत्येक युवा पुरुष को करना चाहिये।

छात्रावस्था में मित्रता की धुन सवार रहती है। मित्रता

हृदय से उमड़ी पड़ती है। पीछे के जो स्नेह-बन्धन होते हैं, उनमें न तो उतनी उमंग रहती है और न उतनी खिन्नता। बाल-मैत्री में जो मग्न करनेवाला आनन्द होता है, जो हृदय को बेधने वाली ईर्ष्या और खिन्नता होती है वह और कहाँ? कैसी मधुरता और कैसी अनुरक्ति होती है; कैसा अपार विश्वास होता है। हृदय से कैसे-कैसे उद्‌गार निकलते हैं? वर्तमान कैसा आनन्दमय दिखाई पड़ता है और भविष्य के सम्बन्ध में कैसी लुभानेवाली कल्पनाएँ मन में रहती हैं! कैसा बिगाड़ होता है और कैसी आर्द्रता के साथ मेल होता है! कैसी क्षोभ से भरी बातें होती हैं और कैसी आवेगपूर्ण लिखा-पढ़ी होती है! कितनी जल्दी बातें लगती हैं और कितनी जल्दी मनाना होता है। 'सहपाठी की मित्रता' इस उक्ति में हृदय के कितने भारी उथल-पुथल का भाव भरा हुआ है! किन्तु जिस प्रकार युवा पुरुष की मित्रता स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ़, शान्त और गम्भीर होती है, उसी प्रकार हमारी युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्र से कई बातों में भिन्न होते हैं। मैं समझता हूँ कि मित्र चाहते हुए बहुत से लोग मित्र के आदर्श की कल्पना मन में करते होंगे, पर इस कल्पित आदर्श से तो हमारा काम जीवन की झंझटों में चलता नहीं। सुन्दर प्रतिमा, मनभावनी चाल और स्वच्छंद प्रकृति ये ही दो-चार बातें देखकर मित्रता की जाती है; पर जीवन-संग्राम में साथ देनेवाले मित्रों में इससे कुछ अधिक बातें चाहिए। मित्र केवल उसे नहीं कहते जिसके गुणों की तो हम प्रशंसा करें, पर जिससे हम स्नेह न कर सकें, जिससे अपने छोटे-मोटे काम तो निकालते जायँ; पर भीतर ही भीतर घृणा करते रहें। मित्र सच्चे पथ-प्रदर्शक के समान होना चाहिये; जिस पर हम पूरा विश्वास कर सकें; भाई के समान होना चाहिए जिसे हम अपना प्रीतिपात्र बना

सकें। हमारे और हमारे मित्र के बीच सच्ची सहानुभूति होनी चाहिए—ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र एक दूसरे की बराबर खोज-खबर लिया करें. ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि-लाभ को दूसरा अपना हानि-लाभ समझे। मित्रता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करते हों वा एक ही रुचि के हों। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण की समानता भी आवश्यक वा वांछनीय नहीं है। दो भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में बराबर प्रीति और मित्रता रही है। राम धीर और शांत प्रकृति के थे; लक्ष्मण उग्र और उद्धत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा उच्चाशय कर्ण और लोभी दुर्योधन के स्वभावों में कुछ विशेष समानता न थी, पर उन दोनों की मित्रता खूब निभी। यह कोई बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रुचि के लोगों ही में मित्रता हो सकती है। समाज में विभिन्नता देखकर लोग एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। जो गुण हममें नहीं हैं, हम चाहते हैं कि कोई ऐसा मित्र मिले जिसमें वह गुण हो। चिंताशील मनुष्य प्रफुल्लचित्त मनुष्य का साथ ढूँढ़ता है, निर्बल बली का, धीर उत्साही का। उच्च आकांक्षावाला चंद्रगुप्त युक्ति और उपाय के लिए चाणक्य का मुँह ताकता था। नीति-विशारद अकबर मन बहलाने के लिए बीरबल की ओर देखता था।

मित्र का कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाया गया है—"उच्च और महान् कार्यों में इस प्रकार सहायता देना, मन बढ़ाना और साहस दिलाना कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य से बाहर काम कर जाओ।" यह कर्तव्य उसी से पूरा होगा जो दृढ़-चित्त और सत्य-संकल्प का हो। इससे हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिए जिनमें हमसे अधिक आत्मबल हो। हमें

उनका पल्ला उसी तरह पकड़ना चाहिए जिस तरह सुग्रीव ने राम का पल्ला पकड़ा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हों, मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सत्यनिष्ठ हों, जिसमें हम अपने को उनके भरोसे पर छोड़ सकें और यह विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा। मित्रता एक नई शक्ति की योजना है। (बर्क ने कहा है कि आचरण-दृष्टांत ही मनुष्य-जाति की पाठशाला है; जो कुछ वह उनसे सीख सकता है, वह और किसी से नहीं।)

जो बात ऊपर मित्रों के सम्बन्ध में कही गई है, वही जान-पहचानवालों के संबंध में भी ठीक है। जो मनुष्य स्वसंस्कार में लगा हो, उसे अपने मिलने-जुलनेवालों के आचरण पर भी दृष्टि रखनी चाहिए, उसे यह ध्यान रखना चाहिए को उनकी बुद्धि और उनका आचरण ठिकाने का है। साधारणतः हमें अपने ऊपर ऐसे प्रभावों को न पड़ने देना चाहिए जिनसे हमारी विवेचना की गति मंद हो वा भले-बुरे का विवेक क्षीण हो। जीवन का उद्देश्य क्या है? क्या वह भविष्य के लिए आयोजन का स्थान नहीं? क्या वह तुम्हारे हाथ सौंपा हुआ पदार्थ नहीं है जिसका लेखा तुम्हें परमात्मा को और अपनी आत्मा को देना होगा? सोचो तो कि दो, चार, दस जितने गुण तुम्हें दिये गये हैं, उन्हें तुम्हें देनेवाले को पचास गुने, सौगुने करके लौटाना चाहिये अथवा ज्यों के त्यों बिना व्याज वा वृद्धि के। यदि जीवन एक प्रहसन ही है जिसमें तुम गा-बजाकर और हंसी-ठट्ठा करके समय काटो, तब जो कुछ उसके महत्व के विषय में मैंने कहा है, सब व्यर्थ ही है। पर जीवन में गम्भीर बातें और विपत्ति के दृश्य भी हैं। मेरी समझ में तो महाराणा प्रताप की भाँति संकट में दिन काटना,

वाजिदअली शाह की भाँति भोग-विलास करने से अच्छा है। मेरी समझ में शिवाजी के सवारों की तरह चने बाँधकर चलना औरंगजेब के सवारों की तरह हुक्के और पानदान के साथ चलने से अच्छा है। मैं जीवन को न तो दुःखमय और न सुखमय बतलाना चाहता हूं, बल्कि उसे एक ऐसा अवसर समझता हूँ जो हमें कुछ कर्तव्यों के पालन के लिए दिया गया है, परलोक के लिए कुछ कमाई करने लिए दिया गया है। जान पहिचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनन्दमय करने में कुछ सहायता दे सकते हों, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है, उसमें खोने के लिए समय नहीं। यदि क, ख और ग हमारे लिए कुछ नहीं कर सकते, न कोई बुद्धिमानी वा विनोद की बातचीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं, न अपनी सहानुभूति द्वारा हमें ढाढ़स बँधा सकते हैं, न हमारे आनन्द में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रखे। हमें अपने चारों ओर जड़ मूर्तियाँ सजाना नहीं है। आजकल जान-पहचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थियेटर देखने जायँगे, नाच-रंग में जायँगे, सैर-सपाटे में जायँगे, भोजन का निमंत्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसें जान-पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी। सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये जान-पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकलें जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश आजकल बहुत बढ़ रही है, यदि उन शोहदों में से निकलें जो अमीरों की बुराइयों

और मूर्खताओं की नकल किया करते हैं, कुलटा स्त्रियों के फोटो मोल लिया करते हैं, महफिलों में 'ओ हो हो', 'वाह' 'वाह' किया करते हैं, गलियों में ठट्ठा मारते हैं और सिगरेट का धुआँ उड़ाते चलते हैं। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य, निःसार और शोचनीय जीवन और किसका है? वे अच्छी बातों के सच्चे आनन्द से कोसों दूर हैं। उनके लिए न तो संसार में सुन्दर और मनोहर उक्तिवाले कवि हुए हैं और न सुन्दर आचरणवाले महात्मा हुए हैं। उनके लिए न तो बड़े-बड़े वीर अद्भुत कर्म कर गये हैं, और न बड़े-बड़े ग्रंथकार ऐसे विचार छोड़ गये हैं जिनसे मनुष्य जाति के हृदय में सात्त्विकता की उमंगें उठती हैं। उनके लिए फूल-पत्तियों में कोई सौंदर्य नहीं, झरनों के कलकल में मधुर संगीत नहीं, अनंत सागर-तरंगों में गंभीर रहस्यों का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनंद नहीं, उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शांति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इन्द्रिय-विषयों में ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशयों और कुत्सित विचारों से कलुषित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन-दिन अंधकार में पतित होते देख कौन ऐसा होगा जो तरस न खायगा? जिसने स्वसंस्कार का विचार अपने-मन में ठान लिया हो, उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिए। मकदूनिया का बादशाह डेमेट्रियस कभी-कभी राज्य का सब काम छोड़ अपने ही मेल के दस-पाँच साथियों को लेकर विषय-वासना में लिप्त रहा करता था। एक बार बीमारी का बहाना करके इसी प्रकार वह अपने दिन काट रहा था, इसी बीच उसका पिता उससे मिलने के लिए गया और उसने एक हँसमुख जवान को कोठरी से बाहर निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुँचा, तब डेमेट्रियस ने कहा—"ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा

है।" पिताजी ने कहा—"हाँ! ठीक है, वह दरवाजे पर मुझे मिला था।"

कुसंग का ज्वर सबसे भयानक होता है। यह केवल नीति और सदवृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की संगत यदि बुरी होगी, तो वह उसके पैर में बँधी चक्की के समान होगी, जो उसे दिन-दिन अवनति के गढ़े में गिराती जायगो और यदि अच्छी होगी तो सहारा देनेवाली बाहु के समान होगी, जो उसे निरंतर उन्नति की ओर उठाती जायगी।

शरणागत

[वृन्दावनलाल वर्मा]

रज्जब अपना रोजगार करके ललितपुर लौट रहा था। साथ में स्त्री थी और गाँठ में दो-तीन सौ की बड़ी रकम। मार्ग बीहड़ था और सुनमान। ललितपुर काफी दूर था, बसेरा कहीं न कहीं लेना ही था। इसलिए उसने मड़पुरा नामक गाँव में ठहर जाने का निश्चय किया। उसकी स्त्री को बुखार आया था, रकम पास में थी और बैलगाड़ी किराए पर करने में खर्च ज्यादा पड़ता इसलिए रज्जब ने उस रात आराम कर लेना ही ठीक समझा।

परन्तु ठहरता कहाँ? जात छिपाने से काम कहीं चल सकता था। उसकी पत्नी नाक और कानों में चाँदी की बालियाँ डाले थी और पैजामा पहने थी। इसके सिवा गाँव के बहुत-से-लोग उसे पहचानते भी थे। वह उस गाँव के बहुत से कर्मण्य और अकर्मण्य ढोर खरीद ले जा चुका था।

अपने जानकारों से उसने रातभर के बसेरे के लायक स्थान की याचना की, पर किसी ने भी मंजूर न की। उन लोगों ने अपने ढोर रज्जब को अलग-अलग और छिपे-लुके बेचे थे। ठहराने में तुरन्त ही तरह-तरह की खबरें फैलतीं। इसलिये सबों ने इनकार कर दिया।

गाँव में एक गरीब ठाकुर रहता था। थोड़ी-सी जमीन थी जिसको किसान जोते हुए थे। निज का हल-बैल कुछ भी न था लेकिन अपने किसानों से दो-तीन साल का पेशगी लगान वसूल कर लेने में ठाकुर को किसी विशेष बाधा का सामना नहीं करना पड़ता था। छोटा-सा मकान था, परन्तु उसको गाँव वाले 'गढ़ी'

के आदर-व्यंजक शब्द से पुकारा करते थे और ठाकुर को डर के मारे 'राजा' शब्द से संबोधित करते थे।

शामत का मारा रज्जब इसी ठाकुर के दरवाजे पर अपनी ज्वर-ग्रस्त पत्नी को लेकर पहुँचा।

ठाकुर पौर में बैठा हुक्का पी रहा था। रज्जब ने बाहर से ही सलाम करके कहा—"दाऊ जू एक विनती है।"

ठाकुर ने बिना एक रत्ती भर इधर-उधर हिले-डुले पूछा—"क्या?"

रज्जब बोला—"मैं दूर से आ रहा हूँ। बहुत थका हुआ हूँ। मेरी औरत को जोर से बुखार आ गया है। जाड़े में बाहर रहने से न जाने इसकी क्या हालत हो जायगी, इसलिये रात भर के लिये कहीं दो हाथ की जगह दे दी जाय।"

"कौन लोग हो?" ठाकुर ने प्रश्न किया।

"हूँ तो कसाई।" रज्जब ने सीधा उत्तर दिया। चेहरे पर उसके बहुत गिड़गिड़ाहट थी।

ठाकुर की बड़ी आँखों में कठोरता छा गई। बोला—"जानता है यह किसका घर है? यहाँ तक आने की हिम्मत कैसे की तूने?"

रज्जब ने आशा भरे स्वर में कहा—"यह राजा का घर है, इसीलिए शरण में आया हूँ।"

तुरन्त ठाकुर की आँखों से कठोरता गायब हो गई। जरा नरम स्वर में बोला—"किसी ने तुमको बसेरा नहीं दिया?"

"नहीं महाराज"—रज्जब ने उत्तर दिया—"बहुत कोशिश की, परन्तु मेरे खोटे पेशे के कारण कोई सीधा नहीं हुआ।" और वह दरवाजे के बाहर ही एक कोने से चिपट कर बैठ गया। पीछे उसकी पत्नी कराहती काँपती हुई गठरी सी बनकर सिमट गई।

ठाकुर ने कहा—तुम अपनी चिलम लिये हो?"

"हाँ सरकार"—रज्जब ने उत्तर दिया।

ठाकुर बोला—'तब भीतर आ जाओ और तमाखू अपनी चिलम से पी लो। अपनी औरत को भीतर कर लो, हमारी पौर के एक कोने में पड़े रहना।"

जब दोनों भीतर आ गये तब ठाकुर ने पूछा—'तुम कब यहाँ से उठकर चले जाओगे?" जवाब मिला—'अँधेरे में ही महाराज! खाने के लिए रोटियाँ बाँधे हूँ, इसीलिये पकाने की जरूरत न पड़ेगी।"

"तुम्हारा नाम?"

"रज्जब।"

थोड़ी देर बाद ठाकुर ने रज्जब से पूछा—"कहाँ से आ रहे हो?"

रज्जब ने स्थान का नाम बतलाया।

"वहाँ किसलिये गये थे?"

"अपने रोजगार के लिए।"

"काम तो तुम्हारा बहुत बुरा है।"

"क्या करूँ, पेट के लिए करना ही पड़ता है। परमात्मा ने जिसके लिये जो रोजगार मुकर्रर किया है वही उसको करना पड़ता है।"

"क्या नफा हुआ?" प्रश्न करने में ठाकुर को जरा संकोच हुआ और प्रश्न का उत्तर देने में रज्जब को उससे बढ़कर।

रज्जब ने जवाब दिया—"महाराज, पेट के लायक कुछ मिल गया है—यों ही।"

ठाकुर ने इस पर कोई जिद न की।

रज्जब एक क्षण बाद बोला—"बड़े भोर उठकर चला जाऊँगा। तब तक घरवाली की तबीयत अच्छी हो जायगी।"

इसके बाद दिन भर के थके हुए पति-पत्नी सो गए। काफी रात गए कुछ लोगों ने एक बँधे इशारे से ठाकुर को बाहर बुलाया। फटी-सी रजाई ओढ़े ठाकुर बाहर निकल आया।

आगन्तुकों में से एक ने धीरे से कहा—"दाऊजू आज तो खाली हाथ लौटे हैं। कल सन्ध्या का सगुन बैठा है।"

ठाकुर ने कहा—"आज जरूरत थी। खैर, कल देखा जायगा। क्या कोई उपाय किया था?"

"हाँ", आगन्तुक बोला—"एक कसाई रुपये की मोट बाँधे इसी ओर आता है। परन्तु हमलोग जरा देर में पहुँचे। वह खिसक गया, कल देखेंगे जरा जल्दी।"

ठाकुर ने घृणासूचक स्वर में कहा—"कसाई का पैसा न छुएँगे।"

"क्यों?"

"बुरी कमाई है।"

"उसके रुपयों पर कसाई थोड़े ही लिखा है।"

"परन्तु उसके व्यवसाय से वह रुपया दूषित हो गया है।"

"रुपया तो दूसरों का ही है। कसाई के हाथ में आने से रुपया कसाई का नहीं हुआ।"

"मेरा मन नहीं मानता, वह अशुद्ध है।"

"हम अपनी तलवार से उसको शुद्ध कर लेंगे।"

ज्यादा बहस नहीं हुई। ठाकुर ने कुछ सोचकर अपने साथियों को बाहर के बाहर ही टाल दिया।

भीतर देखा, कसाई सो रहा था और उसकी पत्नी भी। ठाकुर भी सो गया।

सबेरा हो गया, परन्तु रज्जब न जा सका। उसकी पत्नी का

बुखार तो हल्का हो गया था, परन्तु शरीर भर पीड़ा थी और वह एकदम नहीं चल सकती थी।

ठाकुर उसे वहीं ठहरा हुआ देखकर कुपित हो गया। रज्जब से बोला—"मैंने खूब मेहमान इकट्ठे किये हैं! गाँव भर थोड़ी देर में तुम लोगों को मेरी पौर में टिका हुआ देखकर तरह-तरह की बक्वाद करेगा। तुम बाहर जाओ; इसी समय।"

रज्जब ने बहुत विनती की, परन्तु ठाकुर न माना। यद्यपि गाँव भर उसके दबदबे को मानता था, तथापि अव्यक्त लोकमत का दबदबा उसके मन पर था। इसलिए रज्जब गाँव के बाहर सपत्नीक एक पेड़ के नीचे जा बैठा और हिंदू-मात्र को मन ही मन कोसने लगा।

उसे आशा थी कि पहर आध पहर में उसकी पत्नी की तबीयत इतनी स्वस्थ हो जायगी कि वह पैदल यात्रा कर सकेगी, परन्तु ऐसा न हुआ. तब उसने एक गाड़ी किराये पर लेने का निर्णय किया।

मुश्किल से एक चमार काफी किराया लेकर ललितपुर गाड़ी ले जाने के लिए राजी हुआ। इतने में दोपहर हो गई। उसकी पत्नी को जोर का बुखार हो आया, वह जाड़े के मारे थरथर काँप रही थी, इतनी कि रज्जब की हिम्मत उसी समय ले जाने की न पड़ी। चलने में अधिक हवा लग जाने के भय से रज्जब ने उस समय तक के लिए यात्रा को स्थगित कर दिया, जिस समय तक उस बेचारी की कम से कम कँपकपी बन्द न हो जाय।

घण्टे डेढ़ घण्टे बाद उसकी कँपकपी बन्द हो गई परन्तु ज्वर बहुत तेज हो गया। रज्जब ने अपनी पत्नी को गाड़ी में डाल दिया और गाड़ीवान से जल्दी चलने को कहा।

गाड़ीवान बोला—"दिन भर तो यहीं लगा दिया। अब जल्दी चलने को कहते हो!"

रज्जब ने मिठास के स्वर में उससे फिर जल्दी करने के लिए कहा।

वह बोला—"इतने किराये में काम नहीं चल सकेगा। अपना रुपया वापस लो, मैं तो घर जाता हूँ।"

रज्जब ने दाँत पीसे, कुछ क्षण चुप रहा, सचेत होकर कहने लगा—"भाई आफत सबके ऊपर आती है, मनुष्य मनुष्य को सहारा देता है, जानवर तो देते नहीं। तुम्हारे भी बाल-बच्चे हैं, कुछ दया के साथ काम लो।"

कसाई को दया पर व्याख्यान देते सुनकर गाड़ीवान को हँसी आ गई।

उसको टस से मस न होता देखकर रज्जब ने और पैसे दिये तब उसने गाड़ी हाँकी।

पाँच छः मील चलने के बाद संध्या हो गयी। कोई गाँव पास में न था। रज्जब की गाड़ी धीरे-धीरे चली जा रही थी। उसकी पत्नी बुखार में बेहोश-सी थी। रज्जब ने अपनी कमर टटोली, रकम सुरक्षित बँधी पड़ी थी।

रज्जब को स्मरण हो आया कि पत्नी के बुखार के कारण अंटी का बोझ कम कर देना पड़ा और स्मरण हो आया गाड़ीवान का वह हठ, जिसके कारण उसको कुछ पैसे व्यर्थ ही देने पड़े थे। उसे गाड़ीवान पर क्रोध था, परन्तु उसको प्रगट करने की उस समय उसके मन में इच्छा न थी।

बातचीत करके रास्ता काटने की कामना से उसने वार्तालाप आरम्भ किया—

"गाँव तो यहाँ से दूर मिलेगा।"

"बहुत दूर। वहीं ठहरेंगे।"

"किसके यहाँ?"

"किसी के यहाँ भी नहीं, पेड़ के नीचे। कल सबेरे ललितपुर चलेंगे।"

"कल का फिर पैसा माँग उठना।"

"कैसे माँग उठूँगा? किराया ले चुका हूँ। अब फिर कैसे माँगूँगा?"

"जैसे आज गाँव में ठहर करके माँगा था। बेटा, ललितपुर होता तो बतला देता।"

"क्या बतला देते? क्या सेंतमेंत गाड़ी में बैठना चाहते थे?"

"क्यों वे, क्या रुपयें देकर भी सेंतमेंत गाड़ी में बैठना कहलाता है? जांनता है, मेरा नाम रज्जब है? अगर बीच में गड़बल करेगा तो यहीं छुरी से काट कर कहीं फेक दूंगा और गाड़ी लेकर ललितपुर चल दूँगा।"

रज्जब क्रोध प्रगट करना नहीं चाहता था, परन्तु शायद अकारण ही वह भलीभाँति प्रगट हो गया।

गाड़ीवान ने इधर-उधर देखा, अँधेरा हो गया था। चारों ओर सुनसान था, आस-पास झाड़ी खड़ी थी। ऐसा जान पड़ता था कहीं से कोई अब निकला और तब निकला। रज्जव की बात सुनकर उसकी हड्डी काँप गई। ऐसा जान पड़ता मानों पसलियों में उसकी ठंडी छुरी छू रही हो।

गाड़ीवान चुपचाप बैलों को हाँकने लगा। उसने सोचा—गाँव के आते ही गाड़ी छोड़कर नीचे खड़ा हो जाऊँगा और हल्ला-गुल्ला करके गाँववालों की मदद से अपना पीछा रज्जब से छुड़ाऊँगा। रुपये पैसे भले ही वापिस कर दूँगा परन्तु और आगे न जाऊँगा। कहीं सचमुच मार्ग में मार डाले!

गाड़ी थोड़ी दूर और चली होगी कि बैल ठिठक कर खड़े हो गये। रज्जव सामने न देख रहा था। इसलिऐ जरा अकड़कर गाड़ीवान से बोला—"क्यों बे बदमाश, सो गया क्या?"

अधिक कड़क के साथ सामने रास्ते में खड़ी हुई एक टुकड़ी में से किसी के कठोर कण्ठ से निकला—"खबरदार जो आगे बढ़ा ?"

रज्जब ने सामने देखा कि चार-पाँच आदमी बड़े-बड़े लट्ठ बाँधकर न जाने कहाँ से आ गये हैं। उनमें से तुरन्त ही एक ने बैलों की जुआरों पर एक लट्ठ पटका और दो दाएँ-बाएँ आकर रज्जब पर आक्रमण करने को तैयार हो गये।

गाड़ीवान गाड़ी छोड़कर नीचे जा खड़ा हुआ। बोला—"मालिक मैं तो गाड़ीवान हूँ। मुझसे कोई सरोकार नहीं।"

'यह कौन है ?" एक ने गरज कर पूछा।

गाड़ीवान की घिग्घी बँध गई। कोई उत्तर न दे सका।

रज्जब ने कमर की गाँठ को एक हाथ से सँभालते हुए बहुत विनम्र स्वर में कहा—"मैं बहुत गरीब आदमी हूँ, मेरे पास कुछ नहीं है। मेरी औरत गाड़ी में बीमार पड़ी है। मुझे जाने दीजिये।"

उन लोगों में से एक ने रज्जब के सिर पर लाठी उबारी। गाड़ीवान खिसकना चाहता था कि दूसरे ने उसको पकड़ लिया।

अब उसका मुँह खुला, बोला—"महाराज मुझको छोड़ दो। मैं तो किराये पर गाड़ी लिये जा रहा हूँ। गाँठ में खाने के लिये तीन-चार आने पैसे ही हैं।"

"और यह कौन है, बतला ?" उन लोगों में से एक ने पूछा।

गाड़ीवान ने तुरन्त उत्तर दिया—'ललितपुर का एक कसाई।' रज्जब के सिर पर जो लाठी उबारी गई थी, वह अब वहीं रह गई। लाठी वाले के मुँह से निकला—"तुम कसाई हो, सच बताओ ?"

"हाँ महाराज" रज्जब ने सहसा उत्तर दिया—"मैं बहुत गरीब हूँ, हाथ जोड़ता हूँ, मुझको मत सताओ, मेरी औरत बहुत बीमार है।"

औरत जोर से कराही।

लाठी वाले उस आदमी ने अपने एक साथी से कान में कहा—"इसका नाम रज्जब है, छोड़ो! चलें यहाँ से।"

उसने न माना, बोला—"इसकी खोपड़ी चकनाचूर करो दाऊ जू, यदि ऐसे न माने तो। असाई-कसाई हम कुछ नहीं मानते।

"छोड़ना ही पड़ेगा" उसने कहा—इस पर हाथ नहीं पसारेंगे और न पैसा छूएँगे।"

दूसरा बोला—"क्या कसाई होने से? दाऊ जू, आज तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गए हैं, मैं देखता हूं।" और तुरन्त लाठी लेकर गाड़ी पर चढ़ गया। लाठी का एक सिरा रज्जब की छाती में अड़ा कर उसने तुरन्त रुपया-पैसा निकाल कर दे देने का हुक्म दिया। नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने जरा तीव्र स्वर में कहा "नीचे उतर आओ, उससे मत बोलो। उसकी औरत बीमार है।"

"हाँ मेरी बला से" गाड़ी पर चढ़े हुए लठैत ने उत्तर दिया—"कसाइयों की दवा मैं हूँ।" और उसने रज्जब को फिर धमकी दी।

नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने कहा—"खबरदार, जो उसे छुआ। नीचे उतरो, नहीं तुम्हारा सिर चूर किये देता हूँ। वह मेरी शरण आया था।"

गाड़ी पर चढ़ा लठैत झक-सी मार कर नीचे उतर आया।

नीचे वाले व्यक्ति ने कहा—"सब लोग अपने-अपने घर

जाओ। राहगीरों को तंग मत करो।" फिर गाड़ीवान से बोला—"जा, हाँक ले जा गाड़ी, ठिकाने तक पहुँचा आना तब लौटना, नहीं तो अपनी खैर मत समझियो। और तुम दोनों में से किसी ने कभी इस बात की चर्चा कहीं की तो भूसी की आग में जलाकर खाक कर दूँगा।"

गाड़ीवान गाड़ी लेकर बढ़ गया। उन लोगों में से जिस आदमी ने गाड़ी पर चढ़कर रज्जब के सिर पर लाठी तानी थी, उसने क्षुब्ध स्वर में कहा—

"दाऊ जू, आगे से कभी आपके साथ न आऊँगा।"

दाऊ जू ने कहा—'न आना। मैं अकेले ही बहुत कर गुजरता हूँ परन्तु बुँदेला शरणागत के साथ घात नहीं करता, इस बात को गाँठ बाँध लेना।"

—❀—

कालिदास और शिक्षण समस्या

[बलदेव उपाध्याय]

महाकवि कालिदास की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनके ग्रंथों के अनुशीलन करनेवालों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि मानव-जीवन से सम्बद्ध शायद ही कोई विषय होगा जिसे कविवर ने अछूता छोड़ दिया होगा। भारत की सभ्यता और संस्कृति कालिदास को अपना अभिव्यञ्जक पाकर कृतकृत्य हुई। भारतीय संस्कृति का जितना मनोरम चित्र इस महाकवि ने खींचा है उतना वाल्मीकि तथा व्यास को छोड़कर शायद ही किसी कवि ने अपनी लेखनी से अभिव्यक्त किया है। शिक्षण के विषय में कालिदास के विचार नितान्त महत्वपूर्ण हैं। इन्हीं का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

शिक्षण प्रकार

भारतवर्ष में तथा अन्य देशों में भी बालक तथा बालिका के शिक्षण का प्रारम्भ किया जाता है। चूड़ाकरण के अनन्तर विद्यारम्भ संस्कार किया जाता है। चूड़ाकरण तीसरे वर्ष तथा विद्यारम्भ पाँचवें वर्ष में किया जाता है। विद्या का प्रारम्भ लिपि के ग्रहण से ही होता है। जिस प्रकार नदी का आश्रय लेकर समुद्र प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार लिपि की शिक्षा पाकर वाङ्मय —शब्द समुदाय—में बालक प्रवेश कर सकता है। सबसे प्रथम शिक्षण का विषय होने से आज लिपि की समस्या नितान्त महत्वपूर्ण मानी जाती है।

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यमुत्रैः सवयोभिरन्वितैः ।
लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनैव समुद्रमाविशत् ॥
(रघुवंश ३ सर्ग, २८ श्लोक ।)

इसके अनन्तर उपनयन का समय आता है। उपनयन होने पर ब्रह्मचारी अपने गुरु के पास जाता है और अपने वर्ण के अनुसार विद्याओं का अध्ययन करता है। कालिदास ने विद्याभ्यासी के लिए ब्रह्मचर्य की बड़ी आवश्यकता मानी है। रघु ने रुरुमृग के चर्म को धारण कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने मन्त्रविद् पिता से अस्त्रविद्या को सीखा।

त्वच स मेध्यां परिधाय रौरवी-
मुशिक्षितास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्। (रघु० ३।३१)

शैशवकाल ही विद्याभ्यास के लिए उपयुक्त काल है; इसी समय रघुवंशीय नरेशों ने अपने वर्ण तथा मर्यादा के अनुसार शिक्षा का अनुशीलन किया (शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम्—रघु० १।८)। षडंगों के साथ वेद भारतीय धर्म का मूलस्रोत है। वेद का अभ्यास प्रत्येक आर्य के लिए आवश्यक है। शैशवकाल के कुछ बीत जाने पर जब ब्रह्मचारी की बुद्धि परिपक्व होने लगती है, तब षड्ङ्गवेद की शिक्षा दी जाती है। वेदानुशीलन के पीछे काव्य, इतिहास आदि पढ़ाया जाना चाहिये। इसीलिये वाल्मीकि ने कुश-लव को शैशव के किंचित् बीत जाने पर षड्ङ्गवेद की शिक्षा दी और पीछे अपनी मनोरम कृति रामायण को पढ़ाया।

साङ्गं च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ ।
स्वीकृतिं गोपयामास कविं प्रथमपद्धतिम् ॥
(रघु० १५।३३)

संस्कार का शिक्षा पर बड़ा प्रभाव होता है। पूर्वजन्म के संस्कार इस जन्म में फलीभूत होते हैं। कवि का कहना है कि

बालकों के मस्तिष्क बे-लिखी स्लेट की तरह नहीं हैं, प्रत्युत वह अपने जन्म की प्रवृत्तियों, संस्कारों तथा शक्तियों को साथ लेकर पैदा होता है और उसके जीवन में आगे चलकर ये ही प्रवृत्तियाँ वृद्धि को पाकर विकसित होती हैं। उमा के विषय में कवि का कथन है कि जिस प्रकार शरद्काल में हंसमालायें गंगा में आती हैं, रात के समय स्वाभाविक प्रकाश औषधियों में आता है; उसी प्रकार उपदेश के समय में स्थिरता से विद्या ग्रहण करनेवाली उमा के पास पूर्व जन्म की उपार्जित विद्यायें स्वतः आ गईं :—

तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां
महौषधिं नक्तमिवात्मभासः।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले
प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥

(कुमार० १।३०)

शिक्षक

कालिदास ने आदर्श शिक्षक की बड़ी सुन्दर परिभाषा लिखी है। कुछ शिक्षक विद्या ग्रहण करने में निपुण होते हैं और कुछ विद्यार्थियों को पढ़ाने में चतुर होते हैं, परन्तु सबसे श्रेष्ठ शिक्षक में इन दोनों गुणों का समन्वय होता है। वह विद्या के ग्रहण में तथा विद्या के संक्रमण में समभाव से समर्थ होता है—

शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥

(मालविका० १।१६)

अध्यापन से अध्यापक की विद्या और भी प्रस्फुटित होती

है। अध्ययन के समय में खूब पढ़ी हुई विद्या भी अध्यापन के समय विलक्षण रूप से विकसित होती है। कालिदास का अनुभव इसी सिद्धांत को पुष्ट कर रहा है। कविवर का कथन है :—

"सुशिक्षितोऽसर्वः उपदेशेन निष्ठरातो भवति"

—मालविका० प्रथम अङ्क।

जब शिक्षक को चतुर छात्र प्राप्त होता है, तब वह उसके उपदेश को इतनी जल्दी तथा सुन्दरता से सीख लेता है, कि जान पड़ता है विद्यार्थी ही शिक्षक को बदले में शिक्षा देता है। मालविका की शिक्षा के विषय में कालिदास का कहना है—

यद्यत् प्रयोगविषये भाविकनुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला॥

(मालविका० १।१५)

शिक्षा पात्रभेद से नाना प्रकार की होती है, सत्पात्र को शिक्षा देने में वह विलक्षण चमत्कार पैदा करती है। साधारण जल शुक्ति में पड़ते ही मोती बनकर चमक तथा दाम दोनों में बढ़ जाता है, परन्तु अन्यत्र वह साधारण जल ही रह जाता है। यही कारण है कि शिक्षक अपनी शिक्षा के निमित्त उपयुक्त अधिकारी की खोज में रहता है। कालिदास का कथन नितांत स्पष्ट है—

पात्रविशेषे न्यस्तं गणान्तरं व्रजंति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥

(मालविका०)

सफल शिक्षा की कसौटी है योग्य आलोचकों की प्रशंसा पाना। वही उपदेश विशुद्ध तथा उपादेय माना जाता है, जो योग्य व्यक्तियों के सामने परीक्षा के अवसर पर मलिन नहीं होता—

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः ।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु ॥

विद्यार्थी का कर्तव्य

विद्यार्थियों को अपनी शिक्षा को सफल बनाने के लिए अनेक नियमों का पालन अत्यावश्यक है । ब्राह्म मुहूर्त में उठना प्रत्येक आर्य का कर्तव्य है, विशेषतः छात्रों का। क्योंकि उस समय में चित्त प्रसन्न रहता है, चेतनता प्रसन्नता को प्राप्त कर लेती है। कालिदास की यह उक्ति—

पश्चिमात् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ।

इस विषय में नितान्त चमत्कारिणी है। सन्ध्याकाल में सन्ध्यावन्दन प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, विशेषतः विद्याभ्यासियों का। कविवर ने शङ्कर मुख से संध्यावंदन का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

पार्ष्णिमुक्तवसुधास्तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः ।
ब्रह्म गूढमभिसायमादताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥
(कुमार० ८।४७)

आशय है कि तपस्वी लोग पवित्र जल से सूर्य को अंजलि देते हैं, पैर के अगले भाग पर खड़े रहते हैं तथा सन्ध्याकाल में गायत्री का उपांशु कर रहे हैं ['गूढ़' जप उसे कहते हैं जिसमें जिह्वा भी न हिलती हो, अर्थात् मानसिक जप] ।

विद्यार्थियों को चाहिये कि वे अपने गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कभी न करें (आज्ञां गुरूणांह्यविचारणीया–रघु० १४।४६), क्योंकि यदि पूज्य पुरुषों के प्रति अनादर भाव दिखलाया जायगा तो वह उस व्यक्ति के कल्याण में महान् बाधक बनेगा ।

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ।
(रघु० १।७९)

इन नियमों के पालन करने पर ब्रह्मचारी को अपने उद्देश्य की सिद्धि प्राप्त करते देर नहीं लगती।

शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षण का उद्देश्य क्या है ? किस फल की सिद्धि के लिये इतना क्लेश स्वीकार किया जाता है ? कालिदास का इन प्रश्नों का उत्तर बहुत स्पष्ट है। शिक्षण का सच्चा फल यही नहीं है कि वह सामाजिक जीवन तथा जीविका अर्जन का उपाय मात्र है। शिक्षित हो जाने पर व्यक्ति अपने उदर की पूर्ति अवश्य कर सकता है तथा समाज में अपना विशेष स्थान प्राप्त कर सकता है। परन्तु शिक्षा की इतनी ही आवश्यकता नहीं है, वह तो जीवन को पवित्र तथा विभूषित करने के लिये नितान्त समर्थ है। पार्वती जन्म के अवसर पर हिमालय की प्रशंसा करते समय कालिदास ने स्पष्ट ही कहा है कि हिमालय पार्वती से उसी प्रकार पवित्र तथा विभूषित किये गये जिस प्रकार स्वर्ग गङ्गा जी से तथा विद्वान पुरुष संस्कार-युक्त वाणी से।

प्रभामहत्त्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गगेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया संपूतश्च विभूषितश्च॥

(कुमार० १।२८)

शास्त्रीय विद्या जब तक व्यवहार के रूप में न लाई जाय केवल अध्ययन शब्द का वह जंजाल मात्र है, परन्तु व्यवहार से समन्वित होने पर वह अध्ययन वास्तविक बनता है। कविवर की यह उक्ति—

विद्यामभ्यसनेनैव प्रसादयितुमर्हति।

(रघु० १।८८)

विशेष व्याख्या नहीं चाहती। गीता के 'ज्ञानं विज्ञानसहितं' का भी यही रहस्य है। ज्ञान केवल शाब्दिक तथा शास्त्रीय रहता

है और विज्ञान व्यावहारिक तथा कार्यरूप में परिणत होता है ज्ञान को विज्ञान के बिना समन्वय पाये उच्च उद्देश्य की पूर्ति क नहीं हो सकती।

इस प्रकार महाकवि कालिदास के शिक्षण विषयक विचा नितान्त उच्च, उपादेय तथा उत्साहवर्धक हैं। आशा है शिक्षकों का ध्यान इन रुचिर विचारों की ओर अवश्य आ होगा।

कठोर कृपा

[श्री काका कालेलकर]

किसी शहर में एक अच्छा खानदान रहता था। वह खानदान पहले अमीर था अब गरीब हो गया था। उस खानदान में चार भाई थे। चारों हुनरमंद और पढ़े-लिखे थे। उन्हें नौकरी मिल सकती थी, मगर उनके मन में यह झूठा घमंड बैठ गया था कि खानदानी लोग नौकरी नहीं करते। इसलिए उस खानदान में गरीबी दिन-ब-दिन बढ़ रही थी। बीबी-बच्चों का सारा जेवर भी छिपे-छिपे बिक चुका था। आखिर एक दिन ऐसा आया कि घर में कुछ भी न रहा और खाने-पीने के लाले पड़ गये। अब क्या किया जाय?

उनके घर के पास बगीचे में सहिजन* (मुनगा) का एक पेड़ था। मौसिम के दिन थे। बड़े-बड़े लंबे और हरे-हरे सहिजन लटक रहे थे। जब सांझ हो जाती और चारों तरफ़ सन्नाटा छा जाता तो उन भाइयों में से कोई उस पेड़ पर चढ़ जाता और फलियों को तोड़कर नीचे गिरा देता। रात के समय एक कुँजड़िन आती और सहिजन खरीद कर ले जाती। इस तरह जो थोड़े-से पैसे मिल जाते थे, उन्हीं से उस परिवार का गुजारा होता था।

---

* इस पेड़ में लंबी-लंबी फलियाँ लटकती हैं। बेसन की खट्टी कढ़ी में इनके लंबे-लंबे टुकड़े डालकर पकाते हैं और खाते समय उन्हें चूसते हैं।

दिवाली के बाद, एक दिन उनका एक रिश्तेदार मिलने आया। उसे इन लोगों की बुरी हालत का पता न था। जब भोजन तैयार हुआ तो बड़े भाई ने बहाना बनाया कि आज मेरा सोमवार का व्रत है, मैं खाना न खाऊँगा। दूसरे ने कहा, मेरे पेट में दर्द हो रहा है, डाक्टर ने खाने को मना किया है। तीसरा बोला कि आज मुझे अपने दोस्त के यहाँ रात की दावत में जाना है, वह भी शरीक न हुआ। सिर्फ छोटा भाई मेहमान के साथ खाना खाने बैठा। दो थालियाँ सजाई गयीं। जब दोनों खाने बैठे तो बूढ़ी माँ मेहमान से खाने का खूब आग्रह करती थी, लेकिन अपने छोटे लड़के को जरा भी न पूछती थी। वह लड़का भी सधा हुआ था, कोई चीज परोसने से पहले ही हाथ हिलाकर कह देता—मुझे नहीं चाहिये।

इस तरह दो बार भोजन करने पर मेहमान ताड़ गया कि ये लोग गरीबी के शिकार हो रहे हैं। फाका-कशी के मारे घर की हालत खराब है। खाने-पीने की तकलीफ बढ़ गयी है, फिर भी इन्हें अपनी फिक्र नहीं, झूठी इज्जत की फिक्र है। किसी तरह उस दिन रात का खाना खाकर वह मेहमान बरामदे में सो गया, सो क्या गया, उसने सोने का ढोंग रचा। रात के करीब दस बजे कुँजड़िन आयी। बड़े भाई ने बड़ी सावधानी से बिल्ली की तरह दबे पाँव पेड़ पर चढ़कर सहिजन की बहुत-सी फलियाँ तोड़ीं। कुँजड़िन जानती थी कि इनको इस वक्त गरज है, मैं जो दूँगी इस समय वही ले लेंगे। ज्यादा पैसा मुझसे न माँगेंगे।

जब बड़ा भाई टोकरी में सहिजन लेकर कुँजड़िन के पास आया तो उसने दाम कम बताये और कहा—आजकल लोग सहिजन की परवाह ही नहीं करते हैं, मुझे भी इसमें मुनाफा नहीं होता। अब मैं तुमको पहले की तरह ज्यादा कीमत नहीं

सकती। तुम्हारी गरज हो तो लो, नहीं तो मैं यह चली। बड़े भाई ने मुँह पर हाथ रखकर कहा—तुम जितना देना चाहो उतना दे दो, मगर जोर से मत बोलो। बरामदे में हमारे मेहमान सो रहे हैं, जाग पड़ेंगे। कुँजड़िन ने इस मौके से लाभ उठाकर उन फलियों का दाम और भी घटा दिया। लाचार होकर बड़े भाई को उतने ही पैसे लेने पड़े। न लेता तो क्या करता!

थोड़ी देर में मामला शान्त हो गया, कुँजड़िन चली गयी। चारपाइयों पर सब लोग जोर-जोर से खर्राटे लेने लगे। लेकिन मेहमान जाग रहा था। वह दूरन्देशी था, उसने सोचा—यह कितना अच्छा प्रतिष्ठित खानदान है! झूठी और बनावटी इज्जत के ख्याल से ये नौजवान लड़के खाने-पीने की तकलीफ बरदाश्त कर रहे हैं और इस मामूली सहिजन के झाड़ पर अपना गुजारा कर रहे हैं। उसने उनकी बीमारी समझ ली। बीमारी का इलाज समझ लिया, अपना धर्म समझ लिया। वह चुपचाप उठा। उसने बरामदे के एक कोने में पड़ी हुई कुल्हाड़ी उठा ली। वह बिना किसी आहट के बगीचे में उस सहिजन के पेड़ के पास पहुँचा और पेड़ को जड़ से काटकर धरती पर गिरा दिया। 'अब इस घर में मेरा रहना ठीक नहीं' यह सोचकर पौ फटने से पेश्तर वह मुँह अँधेरे वहाँ से चलता बना।

सबेरा हुआ। बड़ा भाई उठकर देखता क्या है कि मेहमान बरामदे से गायब है और बगीचे में सहिजन का पेड़ कटा पड़ा है। घर को सहारा देनेवाले किसी बड़े बुजुर्ग के मरने से जो मातम छा जाता है वैसा ही मातम उस परिवार में फैल गया। घर की बुढ़िया कहने लगी, यह नासमिटे का कहाँ से आया था, यह रिश्तेदार नहीं था, हमारे पूरब जनम का दुश्मन था।

अगर इसे हमारी बुरी हालत पर तरस आया था, तो चुपचाप हमारे घर आठ-दस मन अनाज भेज दिया होता। हमारे परिवार का एकमात्र सहारा सहिजन का पेड़ इसने क्यों काट डाला ? अब क्या होगा, ईश्वर !

बड़े भाई नें माँ से कहा—अम्मा ! जब तक हमसे हो सका, हमने पुश्तैनी इज्जत बचायी। न किसी की नौकरी की, न किसी के आगे मदद के लिए हाथ फैलाया। मगर अब गुजारा चलना मुश्किल है। कहीं-न-कहीं काम ढूँढ़ना पड़ेगा।

उस शहर में चारों भाइयों की अच्छी इज्जत थी। अपने खानदान और अपनी ईमानदारी के लिए वे काफी मशहूर थे। जहाँ जाते थे वहीं लोग उनसे अच्छा बर्ताव करते थे। एक बड़े धनी-मानी कदरदाँ ने बड़े भाई को अपने यहाँ नौकरी में इज्जत के साथ रख लिया। दूसरे भाई को दूसरी जगह नौकरी मिल गई।

एक साल बीत गया, चारों की हालत सुधर गयी, घर का कारबार भी ठीक-ठीक चल निकला। घर में किसी चीज की कमी न रही।

फिर दीवाली आयी। वही मेहमान फिर से उनके यहाँ आया। उसने कबूल किया कि आँगन का वह पेड़ उसी ने कुल्हाड़ी से काट कर गिरा दिया था। मगर उस कठोर कर्म के पीछे उसकी नेकनीयती थी, कोई खराब इरादा न था। घर के लोग भी यह अच्छी तरह जान गये थे। उन चारों भाइयों ने बड़े प्रेम से अपने नेक कदम मेहमान की खातिरदारी की और उसे बिदा करते वक्त कहा—उस दिन आपने हमारा सहिजन का पेड़ नहीं काटा, हमारी काहिली और बदकिस्मती को काटकर फेंक दिया था।

अगर आप हम पर तरस खाकर दस-पाँच मन अनाज हमारे घर भेज देते तो हम और भी नीचे गिर जाते और पूरे बुजदिल बन जाते। आपने हमारे बगीचे का वह पेड़ गिराकर हमारी गिरी हुई किस्मत को ही ऊँचा उठा दिया। दुनिया में भाई-बन्धु हों तो आप जैसे हों।

सूरदास

[श्यामसुंदर दास]

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरसागर के रचयिता, हिन्दी के अमर कवि महात्मा सूरदास हुए, जिनकी सरस वाणी से देश के असंख्य भूखे हृदय हरे हो उठे और भग्नांश जनता को जीने का नवीन उत्साह मिला। इनका जन्म-संवत् लगभग १५४० था। आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे रुनकता नामक गाँव इनकी जन्मभूमि थी। चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा भक्तमाल के साक्ष्य से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं, यद्यपि कोई कोई इन्हें महाकवि चंद बरदाई के वंशज भाट कहते हैं। इनके अंधे होने के सम्बन्ध में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे जन्म से अंधे थे; पर एक वार जब वे कुएँ में गिर पड़े थे तब श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिये थे और वे दृष्टिसंपन्न हो गए थे। परन्तु उन्होंने कृष्ण से यह कहकर अंधे बने रहने का वर माँग लिया कि जिन आँखों से भगवान् के दर्शन किये, उससे अब किसी मनुष्य को भी न देखें। इस प्रवाद का आधार उनके दृष्ट-कूटों की एक टिप्पणी है। इसे असत्य न मानकर यदि एक प्रकार का रूपक मान लें तो कोई हानि नहीं। सूर वास्तव में जन्मांध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मांध नहीं कर सकता। जान पड़ता है, कुएँ में गिरने के उपरांत उन्हें कृष्ण की कृपा से ज्ञानचक्षु मिले, पहले इस चक्षु से वे हीन थे। यही आशय उस उक्त कहानी से ग्रहण किया जा सकता है।

जब महात्मा वल्लभाचार्य से सूरदासजी की भेंट हुई थी तब तक वे एक बैरागी के वेष में रहा करते थे। तब से ये उनके शिष्य हो गए और उनकी आज्ञा से नित्य प्रति अपने उपास्य देव और सखा श्रीकृष्ण की स्तुति में नवीन भजन बनाने लगे। इनकी रचनाओं का बृहत् संग्रह सूरसागर है जिसमें एक ही प्रसंग पर अनेक पदों का संकलन मिलता है। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद उन अन्ध कवि के मुख से निःसृत हुए, उनमें पुनरुक्ति चाहे भले ही हो, पर उनकी मर्मस्पर्शिता और हृदय-हारिता में किसी को कुछ भी संदेह नहीं हो सकता।

सूरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है, पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परंतु यह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता को सरस्वती का वरद महाकवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इस ग्रंथ में कृष्ण की बाल-लीला से लेकर उनके गोकुल-त्याग और गोपिकाओं के विरह तक की कथा फुटकर पदों में कही गई है। ये पद मुक्तक पद के रूप में होते हुए भी एक भाव को पूर्णता तक पहुँचा देते हैं। सभी पद गेय हैं, अतः सूरसागर को हम गीत-काव्य कह सकते हैं। गीत-काव्य में जिस प्रकार छोटे-छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, प्रत्येक पद जिस प्रकार स्वतः पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है, कवि के आंतरिक हृदयोद्गार होने के कारण उनमें जैसे कवि की अन्तरात्मा झलकती दीख पड़ती है, विवरणात्मक कथा-प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा क्रोध आदि कठोर और कर्कश भावों का सन्निवेश न कर उसमें जैसे सरसता और मधुरता के साथ कोमलता रहती है, उसी प्रकार सूरसागर के गेय पदों में उपर्युक्त सभी बातें पाई जाती हैं। यद्यपि कृष्ण की

पूरी जीवन-गाथा भी सूरसागर में मिलती है, पर उसमें कथा कहने की प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं दीख पड़ती, केवल प्रेम, विरह आदि विभिन्न भावों की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है।

सूरसागर में कृष्ण जन्म से कथा का आरंभ हुआ है। यशोदा के गृह में पहुँचकर कृष्ण धीरे-धीरे बड़े होने लगे। उस काल की उनकी बाल-लीलाओं का जितना विशद वर्णन सूरदास ने किया उतना हिंदी के अन्य किसी कवि ने नहीं किया। कृष्ण अभी कुछ ही महीनों के हैं, माँ का दूध पीते हैं, माँ यह अभिलाषा करती है कि बालक कब बड़ा होगा, कब इसके दो नन्हें-नन्हें दाँत जमेंगे, कब वह माँ कह कर पुकारेगा, घुटनों के बल घर भर में रेंगता फिरेगा आदि आदि। माँ बालक को दूध पिलाती है। न पीने पर उसे चोटी बढ़ने का लालच दिखाती है। उसे आकाश के चन्द्रमा के लिए रोते देख थाल में पानी भर कर चाँद को बालक के लिए भूमि पर ला देती है। कितना वात्सल्य स्नेह, कितना सूक्ष्म निरीक्षण और कितना वास्तविक वर्णन है। इस प्रकार के असंख्य भावों से युक्त अनेक रसपूर्ण पद कहे गये हैं। कृष्ण कुछ बड़े होते हैं। मणि-खंभों में अपना प्रतिबिम्ब देखकर प्रसन्न होते और मचलते हैं। घर की देहली नहीं लाँघ पाते। सब कुछ सत्य है और आनंदप्रद है। कृष्ण और बड़े होते हैं। वे घर से बाहर जाते, गोप-सखाओं के साथ खेलते-कूदते और बाल्य चापल्य प्रदर्शित करते हैं। उनके माखन-चोरी आदि प्रसंगों में गोपिकाओं के प्रेम की व्यंजना भरी पड़ी है। गोपियाँ बाहर से यशोदा के पास उपालंभ आदि लाती हैं, पर हृदय से वे कृष्ण की लीलाओं पर मुग्ध हैं। प्रेम का यह अंकुर बड़ी ही शुद्ध परिस्थिति में देख पड़ता है। कृष्ण की यह किशोरावस्था है, कलुष या वासना का नाम भी नहीं है। शुद्ध

स्नेह है। आगे चलकर कृष्ण सारे व्रजमंडल में सबके स्नेह-भाजन बन जाते हैं। उनका गोचारण उन्हें मनुष्यों के परिमित क्षेत्र से ऊपर उठाकर पशुओं के जगत् तक पहुँचा देता है। वंशीवट और यमुना-कुंजों की रमणीक स्थली में कृष्ण की जो सुन्दर मूर्ति गोप-गोपिकाओं के साथ मुरली और स्नेह-लीला करते अंकित की गई है, वैसी सुषमा का चित्रण करने का सौभाग्य संभवतः संसार के किसी अन्य कवि को नहीं मिला। व्रजमंडल की यह महिमा अपार है। कृष्ण का व्रजनिवास स्वर्ग को भी ईर्ष्यालु करने की क्षमता रखता है।

गोपिकाओं का स्नेह बढ़ता है। वे कृष्ण के साथ रासलीला में सम्मिलित होती हैं, अनेक उत्सव मनाती हैं। प्रेममयी गोपिकाओं का यह आचरण बड़ा ही रमणीय है। उसमें कहीं से अस्वाभाविकता नहीं आ सकी। कोई कृष्ण की मुरली चुराती, कोई उन्हें अबीर लगाती और कोई चोली पहनाती है। कृष्ण भी किसी की वेणी गूँथते, किसी की आँख मूँद लेते और किसी को कदम के तले वंशी बजाकर सुनाते हैं। एकाध बार उन्हें लज्जित करने की इच्छा से चीरहरण भी करते हैं। गोपी-कृष्ण की यह संयोग-लीला भक्तों का सर्वस्व है।

संयोग के उपरांत वियोग होता है। कृष्ण वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले जाते हैं। वहाँ राजकार्यों में संलग्न हो जाने के कारण प्यारी गोपियों को भूल जाते हैं। गोपिकाएँ विरह में व्याकुल नित्य प्रति उनके आने की प्रतीक्षा में दिन काटती हैं। कृष्ण नहीं आते। गोपियों के भाग्य का यह व्यंग उन्हें कुछ देर के लिए विचलित कर देता है। पर ऊधो के ज्ञानोपदेश वे स्वीकार नहीं करतीं। कृष्ण की साकार अनन्त सौंदर्यशालिनी मूर्ति उनके हृदय-पटल पर अमिट अंकित है। कृष्ण चाहे जहाँ रहें, वे भूल नहीं सकतीं।

यह अनन्त प्रेम का दिव्य संदेश भक्तों के हृदय का दृढ़ अवलंब है।

इसी कथानक के बीच कृष्ण के लोक-रक्षक स्वरूप की व्यञ्जना करते हुए उनमें असीम शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। थोड़ी आयु में ही वे पूतना जैसी महाकाय राक्षसी का वध कर डालते हैं। आगे चलकर केशी, बकासुर आदि दैत्यों के वध और कालियदमन आदि प्रसंगों को लेकर कृष्ण के बल और वीरता का प्रदर्शन किया गया है। परन्तु हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि सूरदास ने ऐसे वर्णनों की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया है। सूरदास के कृष्ण महाभारत के कृष्ण की भाँति नीतिज्ञ और पराक्रमी नहीं हैं; वे केवल प्रेम के प्रतीक और सौंदर्य की मूर्ति हैं।

कृष्ण के शील का भी थोड़ा-बहुत आभास सूर ने दिया है। माता यशोदा जब उन्हें दण्ड देती हैं, तब वे रोते-कलपते हुए उसे स्वीकृत करते हैं। इसी प्रकार जब गोचारण के समय उनके लिए छाछ आती है, तब वे अकेले ही नहीं खाते, सब को बाँटकर खाते हैं और कभी किसी का जूठा लेकर भी खा लेते हैं। बड़े भाई बलदेव के प्रति भी उनका सम्मान्य भाव बराबर बना रहा है। यह सब होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि सूरसागर में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की ही प्रधानता है, रामचरितमानस की भाँति उसमें लोकादर्शों की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

सूरदास ने फुटकर पदों में रामकथा भी कही है; पर वह वैसी ही बन पड़ी है जैसे तुलसी की कृष्ण-गीतावली। इसके अतिरिक्त उनके कुछ दृष्टि-कूट और कूट पद भी हैं जिनकी क्लिष्टता का परिहार विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य की दृष्टि से कूटों की गणना निम्न श्रेणी में होगी। सूरदास की कीर्ति को अमर कर देने और हिंदी-कविता में उन्हें उच्चासन प्रदान करने के लिए उनका

वृहदाकार ग्रन्थ सूरसागर ही पर्याप्त है। सूरसागर हिंदी की अपने ढङ्ग की अनुपम पुस्तक है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरस और निर्मल स्रोत इसमें बहा है वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तक सूर की पहुँच है, साथ ही जीवन का सरल अकृत्रिम प्रवाह भी उनकी रचनाओं में दर्शनीय है।

यह ठीक है कि लोक के सम्बन्ध में गंभीर व्याख्याएँ सूरदास ने अधिक नहीं कीं, पर मनुष्यजीवन में कोमलता, सरलता और सरसता भी उतनी ही प्रयोजनीय है, जितनी गंभीरता। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए तो सूरदास का उद्योग और भी स्तुत्य है। परन्तु उनकी कृति, तत्कालीन स्थिति से सम्बन्ध रखती हुई भी सार्वकालीन और चिरंतन है। उनकी उत्कट कृष्णभक्ति ने उनकी सारी रचनाओं में जो रमणीयता भर दी है वह अतुलनीय है। उनमें नवोन्मेषशालिनी अद्भुत प्रतिभा है। उनकी पवित्र वाणी में जो अनूठी शक्तियाँ आपसे आप आकर मिल गई हैं, अन्य कवि उनकी जूठन से ही सन्तोष कर सकते हैं।

सूरदास हिन्दी के अन्यतम कवि हैं। उनके जोड़ का कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा नहीं है। इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है, यह निश्चयपूर्वक कह सकना सरल काम नहीं। भाषा पर अवश्य तुलसीदास का अधिकार अधिक व्यापक था। सूरदास ने अधिकतर व्रज की चलती भाषा का ही प्रयोग किया है। तुलसी ने व्रज और अवधी दोनों का प्रयोग किया है और संस्कृत का पुट देकर उनको पूर्ण साहित्यिक भाषा बना दिया है। परन्तु भाषा को हम काव्य-समीक्षा में अधिक महत्त्व नहीं देते। हमें भावों की तीव्रता और व्यापकता पर विचार करना होगा।

तुलसी ने रामचरित का आश्रय लेकर जीवन की अनेक

परिस्थितियों तक अपनी पहुँच दिखलाई है। सूरदास के कृष्ण-चरित्र में उतनी व्यापकता नहीं। इस दृष्टि से तुलसी सूर से ऊँचे ठहरते हैं, परन्तु दोनों की वाणी में पूत भावनाएँ एक-सी हैं। मधुरता सूर में तुलसी से अधिक है। जीवन के अपेक्षाकृत संकीर्ण क्षेत्र को लेकर उसमें अपनी प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार दिखा देने में सूर की सफलता अद्वितीय है। सूक्ष्म-दर्शिता में भी सूर अपना जोड़ नहीं रखते। तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा विस्तृत है, लोक-कल्याण की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ अधिक शक्तिशालिनी और महत्वपूर्ण हैं, पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। हम तुलसी को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं पर सूरदास के सम्बन्ध में कहे गये निम्नांकित दोहे को अनुचित नहीं समझते—

सूर सूर तुलसी ससी उड़गन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

—श्यामसुंदर दास

——

ब्रह्मचर्य

[महात्मा गाँधी]

खूब चर्चा और दृढ़ विचार करने के बाद १९०६ में मैंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया। व्रत लेने तक मैंने धर्म-पत्नी से इस विषय में सलाह न ली थी। व्रत के समय अलबत्ता ली। उसने उसका कुछ विरोध न किया।

यह व्रत लेना मुझे बड़ा कठिन मालूम हुआ। मेरी शक्ति कम थी। मुझे चिंता रहती कि विकारों को क्यों कर दबा सकूँगा? और स्वपत्नी के साथ विकारों से अलिप्त रहना एक अजीब बात मालूम होती थी। फिर भी मैं देख रहा था कि वही मेरा स्पष्ट कर्त्तव्य है। मेरी नीयत साफ थी। इसलिए, यह सोचकर कि ईश्वर शक्ति और सहायता देगा, मैं कूद पड़ा।

आज २० साल के बाद उस व्रत को स्मरण करते हुए मुझे सानंदाश्चर्य होता है। संयम पालन करने का भाव तो मेरे मन में १९०१ से ही प्रबल या और उसका पालन मैं कर भी रहा था; परन्तु जो स्वतंत्रता और आनन्द मैं अब पाने लगा वह मुझे नहीं याद पड़ता कि १९०६ के पहले मिला हो; क्योंकि उस समय वासनाबद्ध था—कभी भी उसके अधीन हो जाने का भय रहता था; किन्तु अब वासना मुझ पर सवारी करने में असमर्थ हो गई। फिर अब मैं ब्रह्मचर्य की महिमा और अधिकाधिक समझने लगा। यह व्रत मैंने फीनिक्स में लिया था। घायलों की शुश्रूषा से छुट्टी पाकर मैं फीनिक्स गया

था। वहाँ से मुझे तुरंत जोहांसबर्ग जाना था। वहाँ जाने के एक ही महीने के अन्दर सत्याग्रह-संग्राम की नींव पड़ी। मानो यह ब्रह्मचर्य-व्रत उसके लिए मुझे तैयार करने ही आया हो। सत्याग्रह का खयाल मैंने पहले से ही बना रखा हो, सो बात नहीं। उसकी उत्पत्ति तो अनायास—अनिच्छा से—हुई। पर मैंने देखा कि उसके पहले मैंने जो-जो काम किये थे—जैसे फीनिक्स जाना, जोहांसबर्ग का भारी घर-खर्च कम कर डालना और अन्त को ब्रह्मचर्य का व्रत लेना—वे मानो इसकी पेशबंदी थे।

ब्रह्मचर्य का सोलह आने पालन का अर्थ है ब्रह्म-दर्शन। यह ज्ञान मुझे शास्त्रों द्वारा न हुआ था। यह तो मेरे सामने धीरे-धीरे अनुभव सिद्ध होता गया। उससें सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्र-वचन मैंने बाद को पढ़े। ब्रह्मचर्य में शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्मा का रक्षण, सब कुछ है—यह बात मैं व्रत के बाद दिनों-दिन अधिकाधिक अनुभव करने लगा; क्योंकि अब ब्रह्मचर्य को एक घोर तपश्चर्या रहने देने के बदले रसमय बनाना था; उसी के बल पर काम चलाना था। इसलिए अब उसकी खूबियों के नित नये दर्शन मुझे होने लगे।

पर मैं जो इस तरह उससे रस की घूँटे पी रहा था, उससे कोई यह न समझे कि मैं उसकी कठिनता का अनुभव न कर रहा था। आज यद्यपि मेरे छप्पन साल पूरे हो गये हैं, फिर भी उसकी कठिनता का अनुभव तो होता ही है, यह अधिकाधिक समझता जाता हूँ कि यह असि-धारा-व्रत है। अब भी निरंतर जागरूकता की आवश्यकता देखता हूँ।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए पहले स्वादेन्द्रिय को वश में करना चाहिए। मैंने खुद अनुभव करके देखा है कि यदि

स्वाद को जीत लें तो फिर ब्रह्मचर्य अत्यन्त सुगम हो जाता है। इस कारण इसके बाद मेरे भोजन-प्रयोग केवल अन्नाहार की दृष्टि से नहीं, पर ब्रह्मचर्य की दृष्टि से होने लगे। प्रयोग द्वारा मैंने अनुभव किया कि भोजन कम, सादा, बिना मिर्च-मसाले का और स्वाभाविक रूप में करना चाहिए। मैंने खुद छः साल तक प्रयोग करके देखा है कि ब्रह्मचारी का आहार वन-पके फल हैं। जिन दिनों मैं हरे या सूखे वन-पके फलों पर ही रहता था, उन दिनों जिस निर्विकारता का अनुभव होता था, वह खुराक में परिवर्तन करने के बाद न हुआ। फलाहार के दिनों में ब्रह्मचर्य सरल था, दुग्धाहार के कारण अब कष्टसाध्य हो गया है। फलाहार छोड़कर दुग्धाहार क्यों ग्रहण करना पड़ा, इसका जिक्र समय आने पर होगा ही। यहाँ तो इतना कहना ही काफी है कि ब्रह्मचारी के लिए दूध का आहार विघ्नकारक है, इसमें मुझे लेशमात्र संदेह नहीं। इससे कोई यह अर्थ न निकाल ले कि हर ब्रह्मचारी के लिए दूध छोड़ना जरूरी है। आहार का असर ब्रह्मचर्य पर क्या और कितना पड़ता है, इस सम्बन्ध में अभी अनेक प्रयोगों की आवश्यकता है। दूध के सदृश शरीर के रग-रेशे मजबूत बनाने वाला और उतनी ही आसानी से हजम हो जानेवाला फलाहार अब तक मेरे हाथ नहीं लगा है। न कोई वैद्य, हकीम या डाक्टर ऐसे फल या अन्न बतला सके हैं। इस कारण दूध को विकारोत्पादक जानते हुए भी अभी मैं उसे छोड़ने की सिफारिश किसी से नहीं कर सकता।

बाहरी उपचारों में जिस प्रकार आहार के प्रकार और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है उसी प्रकार उपवास की बात भी समझनी चाहिए। इन्द्रियाँ ऐसी बलवान् हैं कि उन पर चारों ओर से ऊपर-नीचे दशों दिशाओं से जब घेरा डाला

जाता है तभी वे कब्जे में रहती हैं। सब लोग इस बात को जानते हैं कि आहार बिना वे अपना काम नहीं कर सकतीं। इसलिए इस बात में जरा भी शक नहीं है कि इन्द्रिय-दमन के हेतु इच्छापूर्वक किये उपवासों से इन्द्रिय-दमन में बड़ी सहायता मिली है। कितने ही लोग उपवास करते हुए भी सफल नहीं होते। इसका कारण यह है कि वे यह मान लेते हैं कि केवल उपवास से ही सब काम हो जायगा और बाहरी उपवास मात्र करते हैं, पर मन में छप्पन भोगों का ध्यान करते रहते हैं। उपवास के दिनों में उन विचारों का स्वाद चखा करते हैं कि उपवास पूरा होने पर क्या-क्या खायेंगे, और फिर शिकायत करते हैं कि न तो स्वादेंद्रिय का संयम हो पाया और न जननेन्द्रिय का। उपवास से वास्तविक लाभ वहीं होता है, जहाँ मन भी देह-दमन में साथ देता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मन में विषय-भोग के प्रति वैराग्य हो जाना चाहिए। विषय-भोग की जड़ तो मन में है। उपवासादि साधनों से मिलनेवाली सहायताएँ बहुत होते हुए भी अपेक्षाकृत थोड़ी ही होती हैं। यह कहा जा सकता है कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रहता है। परन्तु उपवास के बिना विषयासक्ति का समूल विनाश संभवनीय नहीं। इसलिए उपवास ब्रह्मचर्य-पालन का एक अनिवार्य अंग है।

ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले बहुतेरे विफल हो जाते हैं, क्योंकि वे आहार-विहार तथा दृष्टि इत्यादि में अ-ब्रह्मचारी की तरह रहना चाहते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं। यह कोशिश गर्मी के मौसम में सर्दी के मौसम का अनुभव करने जैसी समझनी चाहिए। संयमी और स्वच्छंद, भोगी और त्यागी के जीवन में भेद अवश्य होना चाहिए। साम्य तो

सिर्फ ऊपर ही ऊपर रहता है। किन्तु भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देना चाहिए। आँख से दोनों काम लेते हैं, परन्तु ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है, भोगी नाटक सिनेमा में लीन रहता है। कान का उपयोग दोनों करते हैं, परन्तु एक ईश्वर-भजन सुनता है और दूसरा विलासमय गीतों को सुनने में आनन्द मानता है। जागरण दोनों करते हैं, परन्तु एक तो जागृत अवस्था में अपने हृदय-मंदिर में विराजित राम की आराधना करता है, दूसरा नाच-रंग की धुन में सोने की याद भूल जाता है। भोजन दोनों करते हैं, परन्तु एक शरीर-रूपी तीर्थ-क्षेत्र की रक्षा मात्र के लिए शरीर को किराया देता है और दूसरा स्वाद के लिए देह में अनेक चीजों को ठूँसकर उसे दुर्गन्धित बनाता है। इस प्रकार दोनों के आचार-विचार में भेद रहा ही करता है और यह अन्तर दिन-दिन बढ़ता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन, वचन और काया से समस्त इंद्रियों का संयम। इस संयम के लिए पूर्वोक्त त्यागों की आवश्यकता है, यह बात मुझे दिन-दिन दिखाई देने लगी और आज भी दिखाई देती है। त्याग के क्षेत्र की कोई सीमा ही नहीं है जैसी कि ब्रह्मचर्य की महिमा की नहीं है ऐसा ब्रह्मचर्य अल्प-प्रयत्न से साध्य नहीं होता। करोड़ों के लिए तो यह हमेशा एक आदर्श के रूप में ही रहेगा; क्योंकि प्रयत्नशील ब्रह्मचारी तो नित्य अपनी त्रुटियों का दर्शन करेगा, अपने हृदय के कोने-कुचरे में छिपे विकारों को पहचान लेगा और उन्हें निकाल बाहर करने का सतत उद्योग करेगा। जब तक अपने विचारों पर इतना कब्जा न हो जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार मन में न आने पावे तब तक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं। जितने भी विचार हैं, वे सब एक तरह के विकार हैं।

उनको वश में करने के मानी हैं मन को वश में करना और मन को वश में करना वायु को वश में करने से भी कठिन है। इतना होते हुए भी यदि आत्मा है तो फिर यह भी साध्य है ही। रास्ते में हमें बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं, इससे यह न मान लेना चाहिए कि यह असाध्य है। वह तो परम-अर्थ है। और परम-अर्थ के लिए परम प्रयत्न की आवश्यकता हो तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है?

परन्तु देश आने पर मैंने देखा कि ऐसा ब्रह्मचर्य महज प्रयत्नसाध्य नहीं है। कह सकते हैं कि तब तक मैं इस मूर्छा में था कि फलाहार से विकार समूल नष्ट हो जायँगे; इसलिए अभिमान से मानता था कि अब मुझे कुछ करना बाकी नहीं रहा है।

परन्तु इस विचार के प्रकरण तक पहुँचने में अभी विलम्ब है। इस बीच इतना कह देना आवश्यक है कि ईश्वर-साक्षात्कार करने के लिए मैंने जिस ब्रह्मचर्य की व्याख्या की है उसका पालन जो करना चाहते हैं वे यदि अपने प्रयत्न के साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले होंगे तो उन्हें निराश होने का कोई कारण नहीं है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

—गीता अध्याय २, श्लोक ५९।

निराहारी के विषय तो शान्त हो जाते हैं, परन्तु रसों का शमन नहीं होता। ईश्वर-दर्शन से रस भी शांत हो जाते हैं।

इसलिए आत्मार्थी का अन्तिम साधन तो राम-नाम और राम-कृपा ही है। इस बात का अनुभव मैंने हिन्दुस्तान आने पर ही किया।

मुग़लों ने सल्तनत बख़्श दी

[भगवतीचरण वर्मा]

हीरोजी को आप नहीं जानते, यह दुर्भाग्य की बात है। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल आपका दुर्भाग्य है, दुर्भाग्य हीरोजी का भी है। कारण, वह बड़ा सीधा-सादा है। यदि आपका हीरोजी से परिचय हो जाय तो आप निश्चय समझ लें कि आपका संसार के एक बड़े विद्वान् से परिचय हो गया। हीरोजी को जानने-वालों में अधिकांश का मत है कि हीरोजी पहले जन्म में विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक अवश्य रहे होंगे और अपने किसी पाप के कारण उनको इस जन्म में हीरोजी की योनि प्राप्त हुई। अगर हीरोजी का आपसे परिचय हो जाय तो आप यह समझ लीजिये कि उन्हें एक मनुष्य अधिक मिल गया, जो उन्हें अपने शौक में प्रसन्नतापूर्वक एक हिस्सा दे सके।

हीरोजी ने दुनिया देखी है। यहाँ यह जान लेना ठीक होगा कि हीरोजी की दुनिया मौज और मस्ती की ही बनी है। शराबियों के साथ बैठकर उन्होंने शराब पीने की बाजी लगाई है और सदा जीते हैं। अफीम के आदी नहीं हैं, पर अगर मिल जाय तो इतनी खा लेते हैं, जितनी से एक खानदान का खानदान स्वर्ग या नरक की यात्रा कर सके। भंग पीते हैं तब तक, जब तक उनका पेट न भर जाय। चरस और गाँजे के लोभ में तो साधु बनते-बनते बच गये। एक बार एक आदमी ने उन्हें संखिया खिला दी थी, इस आशा से कि संसार एक पापी के भार से मुक्त हो जाय; पर दूसरे

ही दिन हीरोजी उसके यहाँ पहुँचे। हँसते हुए उन्होंने कहा – 'यार, कल का नशा नशा था। राम दुहाई ! अगर आज भी वह नशा करवा देते तो तुम्हें आशीर्वाद देता।' लेकिन उस आदमी के पास संखिया मौजूद न था।

हीरोजी के दर्शन प्रायः चाय की दूकान पर हुआ करते हैं। जो पहुंचता है, वही हीरोजी को एक प्याला चाय अवश्य पिलाता है। जस दिन जब हमलोग चाय पीने पहुंचे तो हीरोजी एक कोने में आँख बन्द किये हुए बैठे कुछ सोच रहे थे। हम लोगों में बातें शुरू हो गयीं और हरिजन आन्दोलन से घूमते-फिरते बात आ पहुंची दानवराज बलि पर। पण्डित गोवर्धन शास्त्री ने आमलेट का टुकड़ा मुँह में डालते हुए कहा—'भाई, यह तो कलियुग है। न किसी में दीन है, न ईमान ! कौड़ी-कौड़ी पर लोग बेईमानी करने लग गये हैं। अरे अब तो लिख कर भी लोग मुकर जाते हैं। एक युग था, जब दानव तक अपने वचन निभाते थे, सुरों और नरों की तो बात ही छोड़ दीजिये। दानवराज बलि ने वचनबद्ध होकर सारी पृथ्वी दान कर दी थी। पृथ्वी ही काहे को स्वयं अपने को भी दान कर दिया था।'

हीरोजी चौंक उठे। खाँसकर उन्होंने कहा—'क्या बात है ? क्या बात है ? जरा फिर से तो कहना।'

सब लोग हीरोजी की ओर घूम पड़े। कोई नई बात सुनने को मिलेगी, इस आशा से मनोहर ने शास्त्रीजी के शब्दों को दुहराने का कष्ट उठाया—'हीरोजी ! ये गोवर्धन शास्त्री जी हैं, सो कह रहे हैं कि कलियुग में धर्म-कर्म सब लोप हो गये हैं। त्रेता में तो दैत्यराज बलि तक ने अपना सब कुछ वचनबद्ध होकर दान कर दिया था।'

हीरोजी हँस पड़े—'हाँ तो यह गोवर्धन शास्त्री कहने वाले हुए

और तुम लोग सुनने वाले, ठीक ही है। लेकिन हमसे सुनो. यह तो कह रहे हैं त्रेता की बात, और तब अकेले बलि ने ऐसा कर दिया था; लेकिन मैं कहता हूँ कलियुग की बात। कलियुग में तो एक-एक आदमी की कही हुई बात को उसकी सात-आठ पीढ़ी तक निभाती गई और यद्यपि वह पीढ़ी स्वयं नष्ट हो गई लेकिन उसने अपना वचन नहीं तोड़ा।'

हम सब लोग आश्चर्यं में आ गये। हीरोजी की बात समझ में नहीं आई। पूछना पड़ा—'हीरोजी, कलियुग में किसने इस प्रकार अपने वचनों का पालन किया ?'

'लौंडे हो न' हीरोजी ने मुँह वनाते हुए कहा—'जानते हो, मुगलों की सल्तनत कैसे गई ?

'हाँ, अँगरेजों ने उनसे छीन ली।'

तभी तो कहता हूँ कि तुम सब लोग लौंडे हो, स्कूली किताबों को रट-रट कर बन गये पढ़े-लिखे आदमी। अरे ! मुगलों ने अपनी सल्तनत अँगरेजों को बख्श दी।'

हीरोजी ने यह कौन-सा नया इतिहास बनाया ? आँखें कुछ अधिक खुल गईं ! कान खड़े हो गये ! मैंने कहा—'सो कैसे ?' 'अच्छा तो फिर सुनो।' हीरोजी ने आरम्भ किया—'जानते हो शाहशाह शाहजहाँ की लड़की शाहजादी रोशनआरा एक दफा बीमार पड़ी थी और उसे एक अंगरेज डाक्टर ने अच्छा किया था। उस डाक्टर को शाहंशाह शाहजहाँ ने हिन्दुस्तान में तिजारत करने के लिए कलकत्ते में कोठी बनाने की इजाजत दे दी थी।

'हाँ, यह तो हम लोगों ने पढ़ा है।'

लेकिन असल बात यह है कि शाहजादी रोशनआरा, वही शाहंशाह शाहजहाँ की लड़की, हाँ वही शाहजादी रोशनआरा एक दफे जल गई, अधिक नहीं जली थी, हाथ में थोड़ा-सा जल

गई थी। लेकिन जल तो गई थी और थी शाहजादी। बड़े-बड़े हकीम और वैद्य बुलाये गये, इलाज किया गया लेकिन शाहजादी को कोई अच्छा न कर सका।

शाहजादी को भला अच्छा कौन कर सकता था? वह शाहजादी थी न? सब लोग लगाते थे लेप, और लेप लगाने से होती थी जलन और तुरन्त शाहजादी ने धुलवा डाला उस लेप को। भला शाहजादी को रोकनेवाला कौन था। अब शाहंशाह सलामत को फिक्र हुई। लेकिन शाहजादी अच्छी हो तो कैसे? वहाँ तो दवा असर करने ही न पाती थी।

'उन्हीं दिनों एक अंगरेज घूमता-घामता दिल्ली आया। दुनिया देखे हुए तथा घाट-घाट का पानी पिये हुए, पूरा चालाक और चतुर। उसको शाहजादी की बीमारी की खबर लग गई। नौकरों को घूस देकर उसने पूरा हाल दरयाफ्त किया। उसे मालूम हो गया, शाहजादी जलन की वजह से दवा धुलवा डाला करती है सीधे शाहंशाह सलामत के पास पहुंचा और कहा कि मैं डाक्टर हूँ। शाहजादी का इलाज उसने अपने हाथ में ले लिया। उसने शाहजादी के हाथ में एक दवा लगाई। उस दवा से जलन तो दूर रही, उलटे जले हाथ में ठंढक पहुँची। अब भला शाहजादी उस दवा को क्यों धुलवाती? हाथ अच्छा हो गया। 'जानते हो यह दवा क्या थी?' हमलोगों की ओर भेदभरी दृष्टि डालते हुए हीरोजी ने पूछा।

'भाई, हम दवा क्या जानें।' कृष्णानन्द ने कहा।

'तभी तो कहते हैं कि इतना पढ़-लिख कर भी तुम्हें तमीज न आई। अरे वह दवा थी वेसलीन—वही वेसलीन जिसका आज घर-घर में प्रचार है।'

वेसलीन, लेकिन वेसलीन तो दवा नहीं होती।' मनोहर ने कहा।

'कौन कहता है कि वेसलीन दवा होती है! और उसने हाथ में दवा लगा दी वेसलीन और घाव आप ही अच्छा हो गया।'

वह अंगरेज बन बैठा डाक्टर और उसका नाम हो गया। शाहंशाह शाहजहाँ बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस फिरंगी डाक्टर से कहा—'माँगो।'

उस फिरंगी ने कहा—हुजूर, मैं इस दवा का हिन्दुस्तान में प्रचार करना चाहता हूँ, इसलिये हुजूर मुझे हिन्दुस्तान में तिजारत करने की इजाजत दे दें।' बादशाह सलामत ने जब यह सुना कि डाक्टर हिन्दुस्तान में इस दवा का प्रचार करना चाहते हैं तो बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'मंजूर! और कुछ माँगो।' तब उस चालाक डाक्टर ने जानते हो क्या माँगा? उसने कहा—'हुजूर, मैं एक तम्बू तानना चाहता हूं, जिसके नीचे इस दवा के पीपे इकट्ठे किये जायँगे। जहाँपनाह यह फरमा दें कि उस तम्बू के नीचे जितनी जमीन आयेगी, वह जहाँपनाह ने फिरंगियों को बख्श दी।' शाहंशाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी! उन्होंने सोचा, तम्बू के नीचे भला कितनी जगह आयेगी, उन्होंने कह दिया—'मंजूर।'

हाँ, तो शाहंशाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी, छल-कपट उन्हें आता न था; और वह अंगरेज था दुनियाँ देखे हुए। सात समुद्र पार करके हिन्दुस्तान आया था न! पहुँचा विलायत, वहाँ उसने बनवाया रबड़ का एक बहुत बड़ा तम्बू और जहाज पर तम्बू लदवाकर चल दिया हिन्दुस्तान। कलकत्ते में उसने वह तम्बू लगवा दिया। वह तम्बू इतना ऊँचा था कि उसका अन्दाज आप नहीं लगा सकते। इस तम्बू का रंग नीला था। तो जनाब

वह तम्बू लगा कलकत्ते में और विलायत से पीपे पर-पीपे लद-लद कर आने लगे। उन पीपों में वेसलीन को जगह भरा था एक-एक अंग्रेज जवान, मय बन्दूक और तलवार के! सब पीपे तम्बू के नीचे रखवा दिये गये। जैसे-जैसे पीपे जमीन घेरने लगे वैसे-वसे तम्बू को बढ़ा-बढ़ाकर जमीन घेर दी गयी। तम्बू तो रबड़ का था न, जितना बढ़ाया बढ़ गया। अब जनाब तम्बू पहुँचा पलासी। तुम लोगों ने पढ़ा होगा कि पलासी का युद्ध हुआ था। अरे वह सब झूठ है। असल में तम्बू बढ़ते-बढ़ते पलासी तक पहुँच गया था, और उस वक्त मुगल बादशाह का हरकारा दौड़ा था दिल्ली। बस, यह कह दिया गया कि पलासी की लड़ाई हुई। जी हाँ, उस वक्त दिल्ली में शाहंशाह शाहजहाँ की तीसरी या चौथी पीढ़ी सल्तनत कर रही थी। हरकारा जब दिल्ली पहुँचा, उस वक्त बादशाह, सलामत की सवारी निकल रही थी। हरकारा घबराया हुआ था। वह इन फिरंगियों की चालों से हैरान था। उसने मौका देखा न महल, वहीं सड़क पर खड़े होकर चिल्ला कर कहा— 'जहाँपनाह, गजब हो गया! ये बदतमीज फिरंगी अपना तम्बू पलासी तक खींच लाये हैं और चूँकि कलकत्ते से पलासी तक की जमीन तम्बू के नीचे आ गयी है, इसलिए फिरंगियों ने इस पर कब्जा कर लिया है। जो इनको मना किया तो उन बदतमीजों ने शाही फरमान दिखा दिया।' बादशाह सलामत की सवारी रुक गई! उन्हें बुरा लगा। उन्होंने हरकारे से कहा— 'म्याँ हरकारे, मैं कर ही क्या सकता हूँ। जहाँ तक फिरंगियों का तम्बू तन जाय वहाँ तक की जगह उनकी हो गई, हमारे बुजुर्ग यह कह गये हैं। बेचारा हरकारा अपना-सा मुँह लेकर वापस गया।

हरकारा लौटा और इन फिरगियों का तम्बू बढ़ा। अभी

तक तो आते थे पीपों में आदमी, अब आने लगा तरह-तरह का सामान। हिन्दुस्तान का व्यापार फिरंगियों ने अपने हाथ में ले लिया। तम्बू बढ़ता ही रहा और पहुँच गया बक्सर। इधर तम्बू बढ़ा और उधर लोगों की घबराहट बढ़ी। यह जो किताबों में लिखा है कि बक्सर की लड़ाई हुई, यह गलत है। भाई, जब तम्बू बक्सर पहुँचा तो फिर हरकारा दौड़ा।

अब जरा बादशाह सलामत की बात सुनिए। वह जनाबः दीवाने खास में तशरीफ रख रहे थे। उनके सामने सैकड़ों, बल्कि हजारों मुसाहब बैठे थे। बादशाह सलामत हुक्का गुड़-गुड़ा रहे थे, सामने एक साहब जो शायद शायर थे, कुछ गा-गाकर पढ़ रहे थे और कुछ मुसाहब गला फाड़-फाड़कर वाह-वाह चिल्ला रहे थे। कुछ लोग तीतर और बटेर लड़ा रहे थे। हरकारा जा पहुँचा तो यह सब बन्द हो गया। बादशाह सलामत ने पूछा 'म्याँ हरकारे, यह क्या हुआ? इतने घबराये हुए क्यों हो?' हाँफते हुए हरकारे ने कहा—'जहाँपनाह इन बदजात फिरंगियों ने अंधेर मचा रखा है। वह अपना तम्बू बक्सर खींच लाये।' बादशाह सलामत को बड़ा ताज्जुब हुआ। उन्होंने अपने मुसाहबों से पूछा—'मियाँ यह हरकारा कहता है कि फिरंगी अपना तम्बू कलकत्ते से बक्सर तक खींच लाये हैं। यह कैसे मुमकिन है?' इस पर एक मुसाहब ने कहा—'जहाँपनाह, इन फिरंगियों ने जिन्नात पाल रखे हैं—जिन्नात सब कुछ कर सकते हैं।' बादशाह सलामत की समझ में कुछ आया नहीं। उन्होंने हरकारे से कहा—'म्याँ हरकारे, तुम बताओ, यह तम्बू किस प्रकार बढ़ गया।' हरकारे ने समझाया कि तम्बू रबड़ का है। इस पर बादशाह सलामत बड़े खुश हुए। उन्होंने कहा—'ये फिरंगी बड़े चालाक हैं, पूरे अकल के पुतले हैं।' इस पर सब

मुसाहबों ने एक स्वर से कहा—'इसमें क्या शक है? जहाँपनाह बजा फरमाते हैं!' बादशाह सलामत मुस्कराये—'अरे भाई किसी चोबदार को भेजो, जो इन फिरंगियों के सरदार को बुला लावे। मैं उसे खिलअत दूँगा।' सब मुसाहब कह उठे 'वल्लाह! जहाँपनाह एक ही दरियादिल हैं—इन फिरंगियों के सरदार को जरूर खिलअत देनी चाहिये। हरकारा घबराया। वह आया शिकायत करने, वहाँ बादशाह सलामत फिरंगी सरदार को खिलअत देने पर आमादा थे। वह चिल्ला उठा—'जहाँपनाह! इन फिरंगियों ने जहाँपनाह की सल्तनत का एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने तम्बू के नीचे करके उस पर कब्जा कर लिया है। जहाँपनाह, ये फिरंगी जहाँपनाह की सल्तनत छीनने पर आमादा दिखाई देते हैं।' मुसाहब चिल्ला उठे—'ऐं ऐसा गजब!' बादशाह सलामत की मुस्कराहट गायब हो गयी। थोड़ी देर तक सोचकर उन्होंने कहा—'मैं क्या कर सकता हूँ? हमारे बुजुर्ग इन फिरंगियों को उतनी जगह दे गये हैं, जितनी तम्बू के नीचे आ सके। भला मैं उसमें कर ही क्या सकता हूँ। हाँ, उस फिरंगी सरदार को खिलअत न दूँगा।' इतना कहकर बादशाह सलामत फिरंगियों की चालाकी अपनी बेगमात को बतलाने के लिए हरम के अन्दर चले गये। हरकारा बेचारा चुपचाप लौट आया।

जनाब, उस तम्बू ने बढ़ना जारी रखा। एक दिन क्या देखते हैं कि विश्वनाथपुरी काशी के ऊपर वह तम्बू तन गया। अब तो लोगों में भगदड़ मच गई। उन दिनों राजा चेतसिंह बनारस की देखभाल करते थे। उन्होंने उसी वक्त बादशाह सलामत के पास हरकारा दौड़ाया। वह दीवानेखास में हाजिर किया गया। हरकारे ने बादशाह सलामत से अर्ज की कि वह तम्बू बनारस पहुँच

गया है और तेजी के साथ दिल्ली की तरफ आ रहा है। बादशाह सलामत चौंक उठे। उन्होंने हरकारे से कहा— 'तो म्याँ हरकारे, तुम्हीं बताओ, क्या किया जाय? वहाँ बैठे हुए दो-एक उमराओं ने कहा—'जहाँपनाह, एक बहुत बड़ी फौज भेजकर इन फिरंगियों का तम्बू छोटा करवा दिया जाय और कलकत्ते भेज दिया जाय। हम लोग जाकर लड़ने को तैयार हैं। जहाँपनाह का हुक्म भर हो जाय। इस तम्बू की क्या हकीकत है, एक मर्तबा आसमान को भी छोटा कर दें।' बादशाह सलामत ने कुछ सोचा, फिर उन्होंने कहा 'क्या बतलाऊँ। हमारे बुजुर्ग शाहंशाह शाहजहाँ इन फिरंगियों को तम्बू के नीचे जितनी जगह आ जाय, वह बख्श गये हैं। बख्शीशनामा की रू से हम लोग कुछ नहीं कर सकते। आप जानते हैं, हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं। एक दफा जो जबान दे दी, वह दे दी। तम्बू का छोटा करना तो गैर मुमकिन है। हाँ, कोई ऐसी हिकमत निकाली जाय, जिससे ये फिरंगी अपना तम्बू आगे न बढ़ा सकें। इसके लिए दरबार-आम किया जाय और यह मामला वहाँ पेश हो।'

इधर दिल्ली में तो यह बातचीत हो रही थी और उधर इन फिरंगियों का तम्बू इलाहाबाद, इटावा ढँकता हुआ आगरे पहुँचा। दूसरा हरकारा दौड़ा, उसने कहा— जहाँपनाह वह तम्बू आगरे तक बढ़ आया है, अगर अब भी कुछ नहीं किया जाता तो फिरंगी दिल्ली पर भी अपना तंबू तानकर कब्जा कर लेंगे। बादशाह सलामत घबराये, दरबार आम किया गया। सब अमीर-उमरा इकट्ठा हुए। जब सब लोग इकट्ठा हो गये, तो बादशाह सलामत ने कहा—'आज हमारे सामने एक अहम मसला पेश है। आप लोग जानते हैं कि हमारे बुजुर्ग शाहंशाह शाहजहाँ ने फिरंगियों को इतनी जमीन बख्श दी थी, जितनी उनके तंबू के

नीचे आ सके। उन्होंने अपना तंबू कलकत्ते में लगवाया था। लेकिन वह तंबू है रबड़ का, और धीरे-धीरे ये लोग तंबू को आगरे तक बढ़ा लाये। हमारे बुजुर्गों से जब यह कहा गया, तब उन्होंने कुछ कहना मुनासिब न समझा, क्योंकि शाहंशाह शाहजहाँ अपना कौल हार चुके हैं। हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं और अपने कौल के पक्के हैं। अब आप लोग बतलाइये, क्या किया जाय ?' अमीरों और मनसबदारों ने कहा—'हमें उन फिरंगियों से लड़ना चाहिए और उनको सजा देनी चाहिए। उनका तम्बू छोटा करवा कर कलकत्ते भिजवा देना चाहिए।' बादशाह सलामत ने कहा—'लेकिन हम अमीर तैमूर की औलाद हैं। हमारा कौल टूटता है।' इसी समय तीसरा हरकारा हाँफता हुआ बिना इत्तला कराये हुए ही दरबार में घुस आया। उसने कहा—'जहाँपनाह वह तम्बू दिल्ली पहुँच गया। वह देखिये, किले तक आ पहुँचा।' सब लोगों ने देखा वास्तव में हजारों गोरे खाकी वर्दी पहने और हथियारों से लैस बाजा बजाते हुए, तम्बू को किले तक खींचते हुए आ रहे थे। उस वक्त बादशाद सलामत उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा—'हमने तै कर लिया, हम अमीर तैमूर की औलाद हैं। हमारे बुजुर्गों ने जो कुछ कह दिया वही होगा। उन्होंने तम्बू के नीचे की जगह फिरंगियों को बख्श दी थी। अब अगर दिल्ली भी उस तम्बू के नीचे आ रही है तो आवे। मुगल सल्तनत जाती है तो जाय; लेकिन दुनिया यह देख ले कि अमीर तैमूर की औलाद हमेशा अपने कौल की पक्की रही !' इतना कहकर बादशाह सलामत मय अपने अमीर-उमराव के दिल्ली के बाहर हो गये और दिल्ली पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया। अब आप लोग देख सकते हैं कि इस कलियुग में भी मुगलों ने अपनी सल्तनत बख्श दी।

हम सब लोग थोड़ी देर तक चुप रहे। इसके बाद मैंने कहा—'हीरोजी, एक प्याला चाय पीयो।' हीरोजी बोल उठे—'इतनी अच्छी कहानी सुनाने के बाद भी एक प्याला चाय? अरे महुए के ठर्रे का एक अद्धा तो हो जाता।'

—

वैदिक उपदेश

[श्री पण्डित लल्ली प्रसाद पांडेय]

श्रीमान् नारायण राव पेशवा के रक्त का तिलक अपने मस्तक पर लगाकर राघोबा दादा पेशवा की गद्दी पर बैठ गये। उन्हें गद्दी तो प्राप्त हो गई, पर तत्कालीन प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों की सहायता उन्हें न प्राप्त हो सकी। राजनीति-कुशल पुरुष उन्हें जरा भी न चाहते थे। सदा परस्पर एक दूसरे की घात में लगे रहते थे। इसका कारण यह था कि जिस समय नारायण राव पेशवा का शव-दाह हो रहा था, उस समय श्मशान में ही कुछ लोगों ने प्रण कर लिया था कि ऐसे क्रूरकर्म्मा नरेश की आज्ञा पालन महान् पातक है। हम लोग तो उसको अभिवादन तक न करेंगे। अन्त में इन लोगों ने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया और विकट षडयंत्र रचकर राघोबा को पदभ्रष्ट करके ये लोग नारायण राव की रानी के गर्भस्थ बालक और अपने स्वामी की प्रतीक्षा करने लगे। इस राज्यक्रान्ति के मुखिया नाना फड़नवीस आदि बारह चतुर पुरुष थे। यही कारण है कि यह "बारह भाई" अथवा "बारह भाइयों का षडयंत्र" कहलाता है।

जिस प्रकार उत्तम फल-फूलदायक वृक्ष होने के लिए अच्छे बीज की जरूरत होती है उसी प्रकार अच्छी उर्वरा जमीन की भी जरूरत होती है। छत्रपति शिवाजी महाराज स्वयं बड़े तेजस्वी थे फिर श्रीसमर्थरामदासजी के वचनामृत में अपूर्व शक्ति थी, इसी से महाराष्ट्र महाराजरूपी तरुवर की उत्पत्ति हुई।

इसी प्रकार इन बारह भाइयों के नीति-कौशल-रूपी क्षेत्र में नाना फड़नवीस के विचार-रूपी बीज बोये गए और उन पर परम विद्वान रामशास्त्री का उपदेशामृत सींचा गया। इसीसे "बारह भाई" का प्रसंग तरुवर उत्पन्न हुआ और उसमें शाखा-प्रशाखाएँ फूटकर कुछ समय बाद सवाई माधवराव-रूपी उत्तम फल लगा।

नाना फड़नवीस और सखाराम बापू के साथ के सज्जन भी स्वयं राजनीतिज्ञ, विचारवान् और नीति-निपुण थे, जिस पर श्री रामशास्त्री जैसे सत्पुरुष से सहायता मिली। फिर सफलता में शंका ही क्या? समय पाकर बाल-राज दिनकर का उदय हुआ। इससे थोड़े ही समय में उदासीनता-रूपी तमोराशि विलीन हो गई और सभी के हृत्कमल प्रफुल्लित हो उठे।

इस "बारह भाई" को न्यायमूर्ति श्रीरामशास्त्री ने जो उपदेश दिया जो अमृत पिलाया, वह यद्यपि थोड़ा ही सा था, तथापि उसमें शक्ति अपरिमित थी। वेदोक्त होने के कारण वह इतना सरल और प्रसादमय था कि यदि सब लोग उसे सर्वदा ध्यान में रक्खें तो वह उन्हें बहुत ही कल्याणदाक हो। क्योंकि सत्पुरुषों के शब्दों में जगत् के कल्याण का हेतु ही प्रधान रहता है। यहाँ हम केवल यही बतलाते हैं कि यह योगायोग कब और कैसे हुआ।

रघुनाथ राव ने अमानुषी काम करके पेशवा की गद्दी तो प्राप्त कर ली, पर वह मानसिक चिन्ता और लोकापवाद से अपना पीछा न छुड़ा सके। सोते-जागते, खाते-पीते, सर्वदा उनके आगे मूर्तिमान बाल-ब्रह्म-हत्या खड़ी रहती थी। यह हत्या उनके हृदय में रह-रह कर दारुण व्यथा पैदा करती। इसके अतिरिक्त कुछ साहसी लोग उन्हें ताने भी दिया करते थे। कुछ ऐसे भी

निस्पृह सज्जन थे जो उनके आगे यह बात साफ-साफ कह दिया करते थे कि पेशवाओं के वंश में जन्म लेकर आपने अच्छी नामवरी पैदा की! इससे उन्हें अपना जीवन दुस्सह हो गया। बेचारे अपनी स्त्री-रूपिणी राक्षसी के जाल में फँसकर अपकीर्ति के अन्धकूप में गिर पड़े। बालक के रक्त से रंगा पेशवा का राज्य तो मिल गया; पर वैभव-सुख का लेश भी न मिला। अहोरात्र चिन्ता के मारे बेचारे को शान्ति न मिलने पायी, बिना शान्ति के जीवन ही व्यर्थ है। संसार में यदि सब कुछ मिला और शान्ति न मिली तो बेचैनी नहीं दूर होती। यही सोचकर राघोबा ने रामशास्त्री जी को इस उद्देश्य से बुलवाया कि इस कृतापराध का किंचित् प्रायश्चित्त कर पातकों का यथासंभव क्षालन करूँ और किसी तरह लोकापवाद से छुट्टी पाऊँ।

शास्त्रीजी की बुद्धिमत्ता, न्यायप्रियता और निस्पृहता सबको विदित थी। उन्हें श्रीमान् माधव राव ने अपना मुख्य न्यायाधीश बनाया था। निमन्त्रण पाते ही वे राजमहल में पहुँचे और उचित अभिवादन कर बैठ गए। कुछ इधर-उधर की बातें करके राघोबा ने शास्त्रीजी से कहा—'आप उद्भट विद्वान् हैं। हमारे महल में जो दुर्घटना हो चुकी है उसका सब आद्योपान्त वृतान्त भी आप जानते हैं। आपसे कोई बात छिपी नहीं। नारायण राव को मारा तो किसी ने और लोकापवाद पड़ा मुझ पर! अब मेरी इच्छा है कि "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धम्" के नाते मैं उस पाप का कुछ प्रायश्चित्त करूँ। कृपा करके आप बतलावें कि इसका क्या प्रायश्चित्त हो सकता है।"

यह सुनकर शास्त्रीजी कुछ देर तक न बोले। अन्त में यह कहकर वे अपने घर चले गये कि मैं विचार करके रात को उत्तर दूँगा। घर जाकर उन्होंने भोजन इत्यादि नैमित्तिक काम किये

और घर का सारा असबाब गाड़ियों पर लदवा कर बाल-बच्चों को काशी रवाना कर दिया। इस प्रकार घर की व्यवस्था करके वे पेशवा से मिलने गये। नाना फड़नवीस और सखाराम बापू आदि दरबारी भी वहाँ उपस्थित थे। शास्त्रीजी को देख कर राघोबा दादा ने उनकी अभ्यर्थना की और पूछा—"कहिए पण्डित जी, हमने जो सबेरे प्रश्न किया था, उसका आपने क्या निर्णय किया?" राघोबा दादा समझते थे कि कुछ पूजा-पाठ कराने और ब्राह्मणों को लड्डू खिलाकर दक्षिणा में अशर्फियाँ देने से ही मेरा पिण्ड छूट जायगा। इसी आशा-सूत्र से बद्ध होकर वे जल्दी कर रहे थे।

परन्तु शास्त्रीजी पूरे न्याय-मूर्ति थे। उन्हें रत्ती भर भी अन्याय न रुचता था। उनके मन में सदा यह तत्त्व जाग्रत रहता था कि "निस्पृहस्य तृणं जगत्"। भला ऐसे सत्पुरुष के हाथ से इस अघोर कर्म का आच्छादन कैसे हो सकता था! उन्होंने भरे दरबार में पेशवा को उत्तर दिया—"अन्नदाता, ऐसे पातकों का प्रायश्चित्त, प्राणान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" हम नहीं कह सकते कि यह उत्तर सुनकर पेशवा की कैसी दशा हुई होगी। पर इतना जरूर बतलाये देते हैं कि उन्हें यह सोच कर भी अधिक विषाद हुआ कि रामशास्त्री सरकारी नौकर हैं। अपने स्वामी को ऐसा उद्दण्डतापूर्ण उत्तर देने का उन्हें साहस कैसे हुआ? अतएव शास्त्रीजी का उत्तर सुनकर क्रोधवश उन्होंने इतना ही कहा—"हाँ ठीक है।" इस पर शास्त्रीजी ने नमस्कार करके यह कहा कि "श्रीमान् अधिक सोच-विचार में न पड़ें। मैंने अपना सारा सामान पूना से रवाना कर दिया है। काशी-यात्रा की तैयारी करके यहाँ आया हूँ। आज तक मैंने श्रीमान् की यथामति सेवा की। अब यहाँ रहने में भलाई नहीं है, और मेरी अब यहाँ जरूरत भी नहीं

है।" इतना कह कर वे महलों के बाहर हो गये। पेशवा कुछ कहनेवाले थे, पर उन्होंने उधर कुछ ध्यान ही नहीं दिया। इसीसे क्रोधवश पेशवा ने भी उनसे रहने के लिए विशेष आग्रह नहीं किया।

नाना फड़नवीस वगैरह समीप ही बैठे थे। अकस्मात् शास्त्रीजी को जाते देख उनके मन अधिक उद्विग्न हुए, अतएव उन्होंने पेशवा से यह कह कर आज्ञा माँग ली कि हम लोग शास्त्रीजी को पहुँचाने जाते हैं। जाते समय शास्त्रीजी ने सोचा कि अब जाते तो हैं ही, देव-दर्शन क्यों न करते चलें। इससे वे पूना के एक सर्वश्रेष्ठ मन्दिर में दर्शन करने चले गये। नाना फड़नवीस वगैरह भी उनके पीछे-पीछे वहीं पहुँचे। मन्दिर में सबसे मुलाकात हुई। वहाँ बिलकुल एकान्त था। बारह राजनीतिज्ञ मंत्री और तेरहवें शास्त्रीजी को छोड़ वहाँ और कोई न था। उस समय पेशवाओं के राज्य में शास्त्रीजी एक तेजोमय रत्न थे। राजमंत्रियों की उनके सम्बन्ध में विशेष पूज्य बुद्धि थी। बिना शास्त्रीजी की सलाह के वे कोई काम न करते थे। ऐसे विकट समय में उनका चला जाना सबको दुःखदायी हुआ। नाना फड़नवीस के नेत्रों से आँसू टपकने लगे। सब लोग शास्त्रीजी से रहने की प्रार्थना करते-करते थक गये; पर उन्होंने एक न मानी। वे अपने निश्चय पर अटल रहे। अन्त में नाना ने गद्गद् कण्ठ से कहा—"शास्त्रीजी, आप यह बखूबी जानते हैं कि आजकल पेशवाओं की गद्दी पर कैसे भयानक संकट आ रहे हैं। अकेला यह घरेलू झगड़ा ही कितना अनर्थ कर रहा है। यह गद्दी ब्रह्म-बालराजा के रक्त से भींगी हुई है। वर्तमान हिरण्यकशिपु को परास्त करने का हमने विचार कर लिया है। हमें ऐसे घातक पुरुष की सेवा करने की इच्छा नहीं। अवसर ढूँढ़ रहे हैं। दैवकृपा से आशातन्तु भी मिल

गया है। आपसे कहना नहीं होगा कि राज्य-क्रान्ति उत्पन्न करना कितना विकट काम है। ऐसे समय में आपके न रहने से हमारी दक्षिण भुजा टूट जायगी। हमें सलाह देने के लिए कोई योग्य पुरुष न रहेगा। आप इस बात का विचार क्यों नहीं करते? यदि आपको यहाँ रहना मंजूर नहीं है तो हम भी आपके साथ ही चलते हैं। फिर यहाँ रक्खा ही क्या है!" नाना फड़नवीस के इन शब्दों को सुनकर शास्त्रीजी का गला भर आया। वे कहने लगे—"नाना, यह वड़े आश्चर्य की बात है कि तुम्हारे जैसा राज-कार्य धुरंधर जरा-सी बात के कारण उदासीन हो रहा है। सभी काम ईश्वर के संकेतानुसार हुआ करते हैं। उनके लिये ज्ञानवान को विशेष सुख-दुःख न मानना चाहिए। आप सब लोग चतुर, दूरदर्शी और राजकार्य पटु हैं। इसमें जरा भी संदेह नहीं कि आप अभीष्ट कार्यों को अच्छी तरह करके गर्भस्थ प्रभु की कीर्ति दिग्दिगन्त में फैलावेंगे। मैं आपके राज्य-कार्यों में कभी नहीं पड़ा और मुझसे वह सिद्ध भी नहीं हो सकता। मैं तो केवल धर्मशास्त्र की सहायता से अभियोगों का निर्णय करता रहा हूं। हाँ, आप भाई-बन्धु के समान सलाह लेने आते थे, सो मैं आपसे यथामति निवेदन कर देता था। बस, इतनी ही बात थी। किन्तु अब यहाँ रहना अच्छा नहीं। इससे आप भी आग्रह करना छोड़ दें।"

यह सुनकर सब निरुपाय हो गये। उन्होंने जान लिया कि शास्त्रीजी रोके न रुकेंगे। तथापि नाना ने एक और विनती की। वे बोले—"महाराज, आप सबमें वयोवृद्ध और पूज्य हैं। अब हमें आपके विचारपूर्ण, मधुर एवं उत्तम उपदेश दुर्लभ हो जायेंगे। हाय, अब हमारे कर्ण-कुहरों में आपके मधुर शब्द कदाचित् ही फिर प्रविष्ट हों! अतएव हमें आपके मुखारविन्द से दो-चार

शब्दोपदेश सुनने की इच्छा है। उतने ही से हमारा समाधान हो जायगा।"

इस पर शास्त्री जी कुछ हँसकर बोले—"नाना और बापू, तुम दोनों क्या कम हो? काशी से लेकर रामेश्वर पर्यन्त तुम्हारी बुद्धि का डंका बज रहा है। तुमको मैं क्या उपदेश दूँ? तथापि तुम भक्ति भाव से पूछ रहे हो और मेरे अल्पोपदेश को भी सदैव ध्यान में रखने का वचन देते हो, अतएव मैं कुछ कहता हूँ। तुम सब एक से एक चतुर हो; परन्तु सम्भव है कि कभी मत-विरोध हो जाय। आपस में फूट होते समय मेरे विचार तुम्हारे काम आवेंगे। साधारणतः सभी ज्ञानवान् हैं। ऐसा कौन है जिसे भले-बुरे का ज्ञान न हो? और यह बात भी नहीं है कि जो कुछ मैं कहूँगा, वह पूर्वजों के कथन से अधिक महत्व का होगा या कोई एकदम नई बात होगी। किंतु जिसके मुख से उपदेश होता है, उसमें पूज्य बुद्धि होने के कारण श्रोताओं को उसका बारम्बार स्मरण होता रहता है। अतएव मैं भी सूत्र रूप में एक बात तुमसे कहता हूँ। वेदों में हम सबको बड़ी ही पूज्य बुद्धि है। आप ऋग्वेद-संहिता के अन्तिम दो मन्त्रों को सर्वदा ध्यान में रखें। बस मैं इतना ही कहना चाहता हूँ।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

इस वेदवाणी के अनुसार आचरण करने से सब सिद्धियाँ प्राप्त होंगी। मेरा भी यही आशीर्वाद है।" नाना ने कहा—"महाराज, हम इन वेदमन्त्रों का अर्थ नहीं समझे, अतएव आप अर्थ भी

श्रीमुख से ही बतलावें।" शास्त्रीजी ने कहा—"इनका अर्थ बहुत ही अच्छा है। तदनुसार व्यवहार करना बहुत ही हितकर है। अर्थ है—तुम सब मित्र भाव से रहो। परस्पर का विरोध भाव छोड़ो। एकमत होकर भाषण करो। तुम सब अपने मन का रुख एक ही तरफ को रहने दो। जिस प्रकार अनादि देवता एकमत से अपना हविर्भाग ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार तुम भी मत मतान्तर के वैमनस्य को त्याग कर इष्ट फल की प्राप्ति की तरफ ध्यान रक्खो।

अपना निश्चय एक रहने दो। अन्तःकरणों को एक-रूप का वनाओ। तुम्हारे मन समान हों; तुम्हारा हृदय एक-सा हो; सर्वत्र समानता रहे।"

यही इन मन्त्रों का आशय है। अपना व्यवहार तुम इसी उपदेशानुसार करो। ये मन्त्र वेदोक्त हैं और इनका अर्थ रामशास्त्री के मुख से निकला हुआ है। इन मन्त्रों में और इनके अर्थ में अपूर्व शक्ति है। इनका अनुकरण करना सर्वथा शुभ फलदायक है।

—❀—

विश्वकवि रवीन्द्र

[श्री गुलाबराय, एम. ए., एल. एल बी.]

बङ्गाल में ठाकुर परिवार साहित्य, संगीत और कला में प्रवीणता के लिये विख्यात है। उस घर में सरस्वती और लक्ष्मी अपने स्वाभाविक वैमनस्य को त्याग कर चिरकाल से एक दूसरे का अनुरंजन करती हुई विलास करती रही हैं। रवीन्द्र बाबू के जन्म के समय इस कुल में तत्कालीन बङ्गाल की धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक जागृति के स्रोत स्वच्छंदता से परन्तु मर्यादित रूप से वह रहे थे। कवि के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ब्रह्मसमाज के ऐकेश्वरवाद में दृढ़ विश्वासी होते हुए भी हिन्दू-संस्कृति के संरक्षक थे। वे बङ्गाल में ईसाई धर्म की बाढ़ को, जो कि कालीचरन बनर्जी, लालबिहारी दे, कृष्णमोहन बेनर्जी, माइकेल मधुसूदन दत्त जैसे नर-रत्नों को अपने प्रवाह में बहा ले गई थी, रोकने में बड़े सहायक हुए।

रवीन्द्र बाबू का जन्म ६ मई सन् १८६१ में हुआ। यह समय बङ्गाल में साहित्यिक वसन्त गिना जाता है। इस बात को कहने की आवश्यकता नहीं कि रवीन्द्र बाबू में आगे चलकर इस वसन्त-श्री का पुनीत प्रभाव पूर्णतया प्रस्फुटित हुआ।

रवीन्द्र बाबू का बाल्यकाल ठाकुर परिवार के जोड़ासांको नामक प्रासाद में व्यतीत हुआ। यह स्थान कलकत्ता नगर के केन्द्र में है, जहाँ से वे मानव-जीवन के चित्र-विचित्र दृश्यों को पंजरबद्ध पक्षी की भाँति देखा करते थे। वे नौकरों द्वारा खींची

हुई रेखा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। उन्होंने 'जीवन-स्मृति' में अपने घर के जँगले में से देखे हुए निकटस्थ कुंड पर स्नान करनेवालों का क्रिया-विधान बड़े मनोरंजक शब्दों में लिखा है। इतने सम्पन्न परिवार में जन्म लेकर भी उनके बाल्यकाल के जीवन में विलासिता लेशमात्र भी न थी। दस वर्ष की अवस्था तक उन्होंने मोजे और जूतों का व्यवहार नहीं जाना था। जाड़े के दिनों में एक कुर्त्ते के ऊपर दूसरा कुर्ता ही पहन लेना पर्याप्त होता था। हाँ, जब कभी उनका दर्जी नियामत कुर्ते में जेब लगाना भूल जाता था तो वह अवश्य असंतोष का कारण होता था। क्योंकि कोई भी ऐसा गरीब परिवार नहीं है कि जिसके बच्चे अपने कपड़ों में जेब न रखते हों और कोई भी ऐसा बच्चा नहीं जो अपनी जेबों के लिए कुछ सामग्री न जुटा सकता हो। इस प्रकार की सामग्री में गरीब और अमीर बच्चों में कोई अन्तर भी नहीं होता। बचपन में साम्यवाद की प्रधानता रहती है।

बालक रवीन्द्र का वही हाल था, जो प्रायः बड़े आदमियों के लड़कों का होता है। बहुत बड़े आदमी अपने बच्चों की देख-रेख स्वयं नहीं कर सकते। इसके लिये उन्हें फुरसत कहाँ? नौकरशाही में उनका लालन-पालन हुआ और उसकी उनको बड़ी कटु-स्मृति है। वे उसको गुलाम बादशाहों के राज्य के समान अव्यवस्थित बतलाते हैं। वे लोग, 'लालने बहवो दोषा-स्ताडने बहवो गुणाः' के मानने वाले थे। उनकी शिक्षा में ताड़ना की मात्रा अधिक थी। बाल्यकाल की स्वतन्त्रता के अभाव ने ही उनके मन में स्वतन्त्रता का उचित मूल्य स्थापित कर दिया था। थोड़ी सी स्वतन्त्रता को वे ईश्वरदत्त वर मानते थे। अपने ऊपर की हुई स्कूल की सख्ती का बदला वे

अपने बरामदे में लगी हुई कठसोई के डंडों को विद्यार्थी मान, उनको बेंतों की मार लगाकर निकाल लेते थे। एक बार ग्यारह वर्ष की अवस्था में जब उनको अपने पूज्य पिताजी के साथ यात्रा में जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तब से नौकरशाही के कठिन बन्धन शिथिल हो गये और उनके लौटने पर वे नौकरों के अधिकार में न रह कर भीतर घर में रहने लगे।

अन्य बड़े आदमियों की भाँति उनको भी स्कूल के पाठ्यक्रम से अरुचि थी। उनकी स्कूल-शिक्षा की व्यवस्था ठीक न रही। उनके एक बड़े भाई जज थे। उनका परिवार 'ब्राइटन' में रहता था। वे रवीन्द्र बाबू को शिक्षा के लिए विलायत ले गए। व्यावहारिक दृष्टि से वहाँ भी उनकी शिक्षा का क्रम ठीक न रहा, किन्तु वहाँ उन्होंने अंग्रेजी साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। काव्य-रचना तो वे प्रायः बाल्यकाल से ही करने लगे थे और विलायत में बँगला की कविता करते थे। विलायत के सहपाठियों में उन्होंने 'लोकन पालित' के नाम का उल्लेख बड़े स्नेह और आदर के साथ किया है। गाने के लिये उनका कंठ शुरू से ही मधुर था। गाने के इस माधुर्य के कारण उनको एक बार दण्ड भुगतना पड़ा। किसी भारतीय सिविल सर्विस के असफर की विधवा को उसके पति-देव की स्मृति में बनाये हुए एक बंगाली करुण गीत को विहाग राग में सुनने की चाट लग गई थी। रवि बाबू का गायन तो मधुर था ही, किन्तु अपने मेहमानों को उसी गीत के सुनवाने में उस अँग्रेज की विधवा के आत्मभाव की भी वृद्धि होती थी। वह गीत विहाग में गाने का न था। उसके गाने में रवीन्द्र बाबू को एक विशेष कष्ट होता था, जिसका एक सुगायक ही अनुभव कर सकता है। एक बार उसी महिला ने उनको लन्दन से विलायत

के किसी ग्राम में बुलाया। वे बेचारे रात में पहुँचे, भोजन भी न मिला. भूखे पेट सोना पड़ा; रात को सराय में ठहरना पड़ा, सुवह को खाना बासी मिला—जो यदि रात को ही दे दिया जाता तो कुछ अंग लगता और सबसे बड़ी बात यह कि जिस महिला को गीत सुनाने के लिये वे बुलाये गये थे, वह बीमार थी, उसके दर्शन भी न हुए और उनको कमरे के बाहर से ही गीत सुनाना पड़ा। लन्दन लौटने पर वे बीमार पड़ गये और डाक्टर स्काट से, जिनके यहाँ वे ठहरे थे, उन्होंने सब हाल कहा। उनकी लड़कियों ने बड़ी लज्जा प्रकट करते हुए कहा कि इस उदाहरण से अंग्रेजी मेहमानदारी का अन्दाजा न लगाइये। यह तो उस महिला के भारत में रहने का फल है। रवीन्द्र बाबू ने इङ्गलिस्तान के लोगों की ईमानदारी की बहुत प्रशंसा की है। वहाँ के कुलियों का तो कहना क्या, भिक्षुक भी ईमानदार हैं।

रवीन्द्र बाबू का जीवन कोरी काव्य-रचना में ही नहीं बीता था। उनके पूज्य पिताजी ने अपने अन्य पुत्रों की फिजूलखर्ची और अव्यावहारिकता देखकर रविबाबू को उनकी इच्छा के विरुद्ध जमींदारी का कार्य सौंप दिया। वे महर्षि की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे अतः वे अपने गाँव चले गये। वहाँ पद्मा (गङ्गा जी का दूसरा नाम) के किनारे का वातावरण उनके मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत अनुकूल पड़ा। उनकी रचनाओं में गङ्गा, तरी और धान के खेतों की अधिक छाया मिलती है। इस काल में उनकी प्रतिभा का प्रकाश खूब चमका और उन्होंने जमींदारी के काम के साथ-साथ बड़ी उच्चकोटि की साहित्य-सेवा की। वहाँ से 'भारती' और 'साधना' नाम की पत्रिकाएँ भी निकालीं। उनकी 'सोनार तरी' नामक गीतकाव्यों की संग्रहात्मक पुस्तक, जो संन् १८९१ से १८९३ तक लिखी गई, उस समय की

रचनाओं की प्रतिनिधिस्वरूपा है। उसके पश्चात् सन् १८९८ से लगाकर १९०५ तक धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक उथल-पुथल का समय आता है। इस काल में उन्होंने धार्मिक काव्य लिखा और बहुत-सा समय शांति-निकेतन में व्यतीत किया। धार्मिक काव्य के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, वह यह कि उन्होंने वैष्णव कवियों का अनुकरण करते हुए भानुसिंह (रवि और भानु पर्यायवाची शब्द हैं) के नाम से कुछ काव्य लिखा। अनुकरण की उत्तमता के कारण लोग सहज में ही धोखे में आ गये, यहाँ तक कि डाक्टर निशिकांत चटर्जी ने अपनी डाक्टरेट की उपाधि के लिए पेश किये हुए लेख में प्राचीन बंगला गीति काव्य के सम्वन्ध में लिखते हुए भानुसिंह की कविता को वड़े आदर का स्थान दिया है। आशचर्य की बात है कि उस लेख पर उनको डाक्टर की उपाधि भी मिल गई।

सन् १९०६ से लेकर सन् १९१९ तक उनकी 'गीताञ्जलि' और उसके कारण उनकी वढ़ती हुई ख्याति का समय है। 'गीताञ्जलि' की कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने कुछ स्यालदह में और कुछ स्वास्थ्य-सुधार के निमित्त विलायत जाते समय जहाज पर किया। इगलिस्तान में रवीन्द्र बाबू ने वह अनुवाद अपने दो-एक मित्रों को दिखलाया। लोग उसकी आध्यात्मिकता और संगीतमयता को देखकर चकित हो गये। स्वयं रवीन्द्र बाबू को भी उसके लिये इतनी आशा न थी। सन् १९१३ में, जब कि रवीन्द्र बाबू शांति-निकेतन में ही थे, उनके 'नोबेल पुरस्कार' पाने की सूचना उनको मिली। उस सूचना का सारे भारत ने सहर्ष स्वागत किया। नोबेल पुरस्कार का मिलना भारत के ही नहीं, सारी एशिया के लिए गौरव की बात थी। ब्रिटिश साम्राज्य में भी साहित्य के लिए यह शायद

दूसरा ही पुरस्कार था। पहला पुरस्कार रुडयर्ड किपलिंग को मिला था। उस समय से रवीन्द्र बाबू की ख्याति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती रही है। यूरोप और अमेरिका में वे कई बड़ी-बड़ी व्याख्यान-मालाओं के देने के लिए आमंत्रित हुए। नोबेल पुरस्कार से जो द्रव्य मिला तथा उनके व्याख्यानों की सब आय कवि की प्रिय संस्था 'शान्ति-निकेतन' की उपयोगिता बढ़ाने में खर्च हुई। सन् १९१९ के बाद भी रचना-कार्य स्थगित नहीं हुआ। उन्होंने विदेशों की खूब यात्रा की और सभी जगह उचित सम्मान पाया। वे चीन और जापान भी गये थे। बाद में वे हवाई जहाज द्वारा ईरान भी गये। इस प्रकार उन्होंने अपने पर्यटन द्वारा एक विश्वबन्धुत्व स्थापित कर दिया है। उनकी स्थापित की हुई 'विश्वभारती' जिसका 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'—अर्थात् 'जहाँ पर सारा विश्व एक घोंसला बन गया है' आदर्श वाक्य है, विश्वबन्धुत्व के भाव को चरितार्थ कर रही है। उनका सिद्धान्त है कि एक-दूसरे की संस्कृति को समझ कर लोग एक-दूसरे के साथ भ्रातृ-भाव रखें।

रवीन्द्र बाबू के कवित्व के सम्बन्ध में भी दो-एक शब्द कहना अनुपयुक्त न होगा।

रवीन्द्र बाबू की कविताओं का बड़ा विस्तार है। समुद्र की भाँति जैसा उनका विस्तार है. वैसा ही उनका गाम्भीर्य भी है। उनमें सत्कवि के सभी गुण हैं। उनकी कल्पना बड़ी उर्वरा है, शब्दचित्र खींचने में वे बड़े ही निपुण हैं। उनकी लेखनी चित्रकार की तूलिका को बहुत पीछे छोड़ देती है। काव्य में बिना अनावश्यक और निरर्थक शब्दों का समावेश किये संगीत उत्पन्न करने में बहुत थोड़े लोग उनकी बराबरी कर सकते हैं। उन्होंने अगणित नवीन छन्दों का निर्माण किया है। उन्होंने साहित्य,

संगीत का अनुपम योग किया है। उनकी सरलता में गौरव और गाम्भीर्य है। इस छोटे से निबन्ध में उनकी कविता का दिग्दर्शन मात्र कराया जा सकता है।

उनकी कविता केवल कविता नहीं है, वरन् उसमें एक आध्यात्मिकता भरी हुई है। उनकी कविता को उनके दार्शनिक और धार्मिक भावों से अलग करना कठिन होगा। उन्होंने लौकिक कविता की है, किन्तु उस लौकिक में भी एक दैवी आभा दिखाई पड़ती है। वास्तव में कवि के लिये संसार और स्वर्ग में भेद नहीं। वे सुख-दुःखमय संसार को ही प्रधानता देते हैं।

इसी प्रकार उनकी कविता में भी यह नहीं मालूम पड़ता कि उसमें कहाँ तक लौकिक शृंगार है और कहाँ तक दिव्य रूप। 'सोनार तरी' की कविताओं में उन्होंने घरेलू चित्र खींचे हैं। वे सब कविताएँ आध्यात्मिक महत्व रखती हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि सभी कविताओं में खींच-तान कर आध्यात्मिक अर्थ लगाये जायँ; किन्तु उनकी अधिकांश कविताओं में आध्यात्मिक गाम्भीर्य है। 'गार्डनर' में संग्रहीत कुछ कविताएँ ऐसी हैं, जिनमें शृंगार की मात्रा अधिक है और आध्यात्मिकता की मात्रा कम; किन्तु उनके शृंगार और करुण सब में विश्वतंत्री की झङ्कार सुनाई पड़ती है। उनका शृंगार और मिलन भी आत्मा के विकास के लिए ही है। वे बाह्य सौंदर्य का महत्व स्वीकार करते हुए भी आध्यात्मिक आन्तरिक सौंदर्य को अधिक महत्व देते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी बड़ी सूक्ष्म और गम्भीर विवेचना है।

रवीन्द्र बाबू के सौंदर्य-बोध के सम्बन्ध में इतना और कह देना अनुपयुक्त न होगा कि वे सौंदर्य को विषय-गत (objective) और विषयी-गत (subjective) दोनों ही मानते हैं; अर्थात्

सौन्दर्य वस्तु में भी है और द्रष्टा की दृष्टि में भी। बिहारी के शब्दों में 'रूप रिझावन हार यह वे नयना रिझवार।'

रवीन्द्र बाबू यह मानते हैं कि सौन्दर्य का अच्छा उपभोग आत्मा द्वारा ही हो सकता है; क्योंकि वह आत्मा की ही वस्तु है।

वे कला और आचार का विच्छेद नहीं करना चाहते। उनकी कविता में कला है किन्तु उसमें आचार सम्बन्धी अराजकता नहीं है, उसमें मर्यादा है। वे तुलसीदास जी की भाँति उसी कविता को उत्तम मानते हैं जो 'सुरसरिता सम सब कहँ हितकर होई।' उन्होंने अपनी कविता में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का आदर्श चरितार्थ किया है।

रवीन्द्र बाबू ने प्रायः सभी रसों पर लिखा है; किन्तु यहाँ पर उन सबका वर्णन नहीं हो सकता।

उनका एक विशेष व्यक्तित्व था, जो अपना स्वाभाविक आकर्षण रखता था। वे सच्चे कवि थे, उनका जीवन काव्यमय था। वे संसार के प्रमुख कवियों में गिने जाते हैं। भारत का गौरव उन्होंने बहुत ऊँचा किया है।

—※—

संगीत का अनुपम योग किया है। उनकी सरलता में गौरव और गाम्भीर्य है। इस छोटे से निबन्ध में उनकी कविता का दिग्दर्शन मात्र कराया जा सकता है।

उनकी कविता केवल कविता नहीं है, वरन् उसमें एक आध्यात्मिकता भरी हुई है। उनकी कविता को उनके दार्शनिक और धार्मिक भावों से अलग करना कठिन होगा। उन्होंने लौकिक कविता की है, किन्तु उस लौकिक में भी एक दैवी आभा दिखाई पड़ती है। वास्तव में कवि के लिये संसार और स्वर्ग में भेद नहीं। वे सुख-दुःखमय संसार को ही प्रधानता देते हैं।

इसी प्रकार उनकी कविता में भी यह नहीं मालूम पड़ता कि उसमें कहाँ तक लौकिक शृंगार है और कहाँ तक दिव्य रूप। 'सोनार तरी' की कविताओं में उन्होंने घरेलू चित्र खींचे हैं। वे सब कविताएँ आध्यात्मिक महत्व रखती हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि सभी कविताओं में खींच-तान कर आध्यात्मिक अर्थ लगाये जायँ; किन्तु उनकी अधिकांश कविताओं में आध्यात्मिक गाम्भीर्य है। 'गार्डनर' में संग्रहीत कुछ कविताएँ ऐसी हैं, जिनमें शृंगार की मात्रा अधिक है और आध्यात्मिकता की मात्रा कम; किन्तु उनके शृंगार और करुण सब में विश्वतंत्री की झङ्कार सुनाई पड़ती है। उनका शृंगार और मिलन भी आत्मा के विकास के लिए ही है। वे बाह्य सौंदर्य का महत्व स्वीकार करते हुए भी आध्यात्मिक आन्तरिक सौंदर्य को अधिक महत्व देते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी बड़ी सूक्ष्म और गम्भीर विवेचना है।

रवीन्द्र बाबू के सौंदर्य-बोध के सम्बन्ध में इतना और कह देना अनुपयुक्त न होगा कि वे सौंदर्य को विषय-गत (objective) और विषयी-गत (subjective) दोनों ही मानते हैं; अर्थात्

सौन्दर्य वस्तु में भी है और द्रष्टा की दृष्टि में भी। बिहारी के शब्दों में 'रूप रिझावन हार यह वे नयना रिझवार।'

रवीन्द्र बाबू यह मानते हैं कि सौन्दर्य का अच्छा उपभोग आत्मा द्वारा ही हो सकता है; क्योंकि वह आत्मा की ही वस्तु है।

वे कला और आचार का विच्छेद नहीं करना चाहते। उनकी कविता में कला है किन्तु उसमें आचार सम्बन्धी अराजकता नहीं है, उसमें मर्यादा है। वे तुलसीदास जी की भाँति उसी कविता को उत्तम मानते हैं जो 'सुरसरिता सम सब कहँ हितकर होई।' उन्होंने अपनी कविता में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का आदर्श चरितार्थ किया है।

रवीन्द्र बाबू ने प्रायः सभी रसों पर लिखा है; किन्तु यहाँ पर उन सबका वर्णन नहीं हो सकता।

उनका एक विशेष व्यक्तित्व था, जो अपना स्वाभाविक आकर्षण रखता था। वे सच्चे कवि थे, उनका जीवन काव्यमय था। वे संसार के प्रमुख कवियों में गिने जाते हैं। भारत का गौरव उन्होंने बहुत ऊँचा किया है।

—※—

शिवाजी का सच्चा स्वरूप

[सेठ गोविंद दास]

पात्र :—१. शिवाजी—प्रसिद्ध मराठा वीर

२. मोरोपन्त पिंगले—पेशवा

३. आबाजी सोनदेव—शिवाजी का एक सेनापति

स्थान:— राजगढ़ दुर्ग का एक दालान

[दाहिनी ओर दालान का कुछ हिस्सा दिखाई देता है। दालान की छत पत्थर के खम्भों पर है। उसके पीछे की दीवार भी पत्थर की ही है। दालान के पीछे की ओर दाहिनी तरफ दूर पर गढ़ की सफील और कुछ बुर्ज दीख पड़ते हैं। बाईं तरफ सह्याद्रि पर्वतमाला की शिखरावली दृष्टिगोचर होती है। कुछ सिखरों की ओट से सूर्य अस्त हो रहा है, जिसके अन्तिम प्रकाश में सारा दृश्य प्रकाशित है। दालान के सामने किले का खुला मैदान है। मैदान में एक ऊँचे स्तम्भ पर भगवे रंग का मराठा झंडा फहरा रहा है। दालान में जाजम बिछी है। उस पर किमखाब की गद्दी पर मसनद के सहारे शिवाजी वीरासन में किसी विचार में मग्न हैं।

दालान के बाहर शस्त्रों से सुसज्जित दो मावली शरीर-रक्षक खड़े हैं। बाईं ओर से मोरोपन्त पिंगले का प्रवेश।

मोरोपन्त अधेड़ अवस्था का, गेहुँए रंग का, ऊँचा-पूरा व्यक्ति है। वेश-भूषा शिवाजी से मिलती-जुलती है। केवल सिर की पगड़ी में अन्तर है। मोरोपन्त की पगड़ी शिवाजी की पगड़ी के

सदृश मुगल तर्ज़ की न होकर मराठा ढंग की है। उसके मस्तक पर त्रिपुण्ड भी है।]

मोरोपन्त—(अभिवादन कर) श्रीमन्त सरकार! सेनापति आबाजी सोनदेव कल्याण प्रान्त को जीत, वहाँ का सारा खजाना लूट कर आये हैं।

शिवाजी—(चौंककर) अच्छा! (मोरोपन्त की ओर देख कर) बैठो, पेशवा! बड़ा शुभ सन्देश लाये। आबाजी सोनदेव हैं कहाँ?

मोरोपन्त—(वीरासन से बैठ कर) श्रीमन्त की सेवा में अभी उपस्थित हो रहे हैं।

[कुछ देर निस्तब्धता। शिवाजी और मोरोपन्त दोनों उत्सुकता से बायीं ओर देखते हैं। कुछ ही देर में आबाजी सोनदेव बायीं ओर से आता हुआ दिखाई देता है। उसके पीछे कुलियों का एक बड़ा भारी झुंड है, हर कुली के सिर पर एक भारी टोकरी है, उनके पीछे एक पालकी है। पालकी बन्द है। आबाजी सोनदेव भी अधेड़ अवस्था का ऊँचा पूरा मनुष्य है। वेश-भूषा मोरोपन्त के सदृश है। आबाजी सोनदेव दालान में आकर शिवाजी को अभिवादन करता है। कुलियों का झुंड और पालकी दोनों दालान के बाहर रुक जाते हैं।]

शिवाजी—बैठो, आबाजी! कल्याण-विजय पर तुम्हें बधाई है।

आबाजी—(बैठते हुए) बधाई है श्रीमन्त सरकार को।

शिवाजी—कहो, पैदल मावलियों ने अधिक वीरता दिखाई या हेटकारियों ने?

आबाजी—दोनों ने ही श्रीमन्त सरकार।

शिवाजी—और घुड़सवारों में बारगिरों ने या शिलेदारों ने?

आबाजी—इनमें भी दोनों ने ही श्रीमन्त।

शिवाजी—सेना के अधिपति कैसे रहे ?

आबाजी—पैदल के अधिपति—नायक, हवलदार, जुमालदार और एक हजारी तथा घुड़सवार के अधिपति—हवलदार, जुमालदार और सूबेदार सभी का काम प्रशंसनीय रहा, श्रीमन्त सरकार।

शिवाजी—(कुलियों की ओर देखकर मुस्कराते हुए) कल्याण का खजाना भी लूट लाये; बहुत माल मिला ?

आबाजी—हाँ, श्रीमंत ! सारा खजाना लूट लिया गया और इतना माल मिला जितना अब तक की किसी लूट में न मिला था। चाँदी, सोना, जवाहरात, न जाने क्या-क्या मिला ! मैं तो समझता हूँ, श्रीमंत ! केवल दक्षिण ही नहीं, उत्तर की भी विजय इस सम्पदा से हो सकेगी।

शिवाजी – (कुलियों के पीछे पालकी को देखकर) और उस पालकी में क्या है ?

आबाजी (मुस्कराते हुए) उसमें·· उस पालकी में श्रीमंत, इस विजय का सबसे बड़ा तोहफा है।

शिवाजी (उत्सुकता से आबाजी की ओर देखते हुए) अर्थात् !

आबाजी—श्रीमंत ! कल्याण के सूबेदार अहमद की पुत्रवधू के सौन्दर्य का वृत्त कौन नहीं जानता ? उसे भी श्रीमंत की सेवा के लिए बन्दी करके लाया हूँ।

[शिवाजी की सारी प्रसन्नता एकाएक लुप्त हो जाती है। उनकी भृकुटि चढ़ जाती है और नीचे का ओंठ ऊपर के दाँतों के नीचे आ जाता है। आबाजी सोनदेव शिवाजी की परिवर्तित मुद्रा को देखकर घबड़ा-सा जाता है। मोरोपन्त एकटक शिवाजी की ओर देखता है। कुछ देर निःस्तब्धता रहती है।]

शिवाजी—(भर्राये हुए स्वर में) पालकी को तत्काल भीतर ले आओ।

[आवाजी सोनदेव जल्दी से दालान के बाहर जाता है। शिवाजी एकटक पालकी की ओर देखते हैं; मोरोपन्त शिवाजी की तरफ। कुछ ही क्षणों में पालकी दालान में आती है। ज्योंही पालकी दालान में रखी जाती है त्योंही शिवाजी जल्दी से पालकी के निकट पहुँचते हैं। मोरोपन्त शिवाजी के पीछे-पीछे जाता है।]

शिवाजी—(आवाजी सोनदेव से) खोल दो पालकी, आबाजी !

[आबाजी पालकी के दरवाजे खोलता है। अहमद की पुत्र-वधू उसमें से निकल कर चुपचाप एक ओर सिकुड़ कर खड़ी हो जाती है। वह परम सुन्दरी युवती है। वेश-भूषा मुगल स्त्रियों के सदृश।]

शिवाजी—(अहमद की पुत्र-वधू से) माँ ! शिवाजी अपने सिपहसालार की इस नामाकूल हरकत पर आपसे मुआफी चाहता है। आह ! कैसी अजीबोगरीब खूबसूरती है आपकी ! आपको देखकर मेरे दिल में एक···सिर्फ एक बात उठ रही है—कहीं मेरी माँ में आपकी-सी खूबसूरती होती तो मैं भी बदसूरत न होकर एक खूबसूरत शख्स होता। माँ ! आपकी खूबसूरती को मैं एक··सिर्फ एक काम में ला सकता हूँ—उसका हिन्दू-विधि से पूजन करूँ; उसकी इस्लामी-तरीके से इबादत करूँ। आप जरा भी परेशान न हों। माँ ! आपको आराम, इज्जत, हिफाजत और खबरदारी के साथ आपके शौहर के पास पहुंचा दिया जायगा, बिना देरी के, फौरन। (आबाजी की ओर घूम कर) आबाजी ! तुमने ऐसा काम किया है, जो कदाचित् क्षमा नहीं किया जा सकता। शिवा को जानते हुए तुम्हारा साहस

ऐसा घृणित कार्य करने के लिए कैसे हुआ ? शिवा ने आज तक किसी मसजिद की दीवार में बाल बराबर दरार भी न आने दी ! शिवा को यदि कहीं कुरान की पुस्तक मिली तो उसने उसे सिर पर चढ़ाया, उसके एक पन्ने को भी किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये बिना मौलवी साहब की सेवा में भेज दिया। हिन्दू होते हुए भी शिवा के लिए इस्लाम-धर्म भी आदरणीय है। इस्लाम के पवित्र स्थान, उसके पवित्र ग्रन्थ, सम्मान की वस्तुएँ हैं। शिवा हिन्दू और मुसलिम प्रजा में कोई भेद नहीं समझता। अरे, उसकी सेना में मुसलिम सैनिक तक हैं। वह देश में हिन्दू-राज्य ही नहीं, सच्चे स्वराज्य की स्थापना चाहता है। आततायियों से सत्ता का अपहरण कर उदार-चेताओं के हाथों में अधिकार देना चाहता है। फिर पर स्त्री ! अरे ! पर-स्त्री तो हर एक के लिए माता के समान है। जो अधिकारप्राप्त जन हैं, जो सरदार हैं या राजा, उन्हें···उन्हें तो इस संबंध में विवेक—सबसे अधिक विवेक—रखना आवश्यक है। (कुछ रुक कर) आबाजी ! क्या तुम मेरी परीक्षा लेना चाहते थे ? इसीलिए तो तुमने यह कृति नहीं की ? शिवा ये लड़ाई-झगड़े, ये लूटपाट, क्या व्यक्तिगत सुखों के लिए कर रहा है ? क्या स्वयं चैन उड़ाना उसका उद्देश्य है ? तब··तब तो ये रक्त-पात, ये लूट-मार, घृणित, अत्यन्त घृणित कृतियाँ हैं। शिवा में यदि शील नहीं तो उसके सेनापतियों, सरदारों को शील का स्पर्श तक नहीं हो सकता। फिर तो हममें और इन्द्रियलोलुप लुटेरों तथा डाकुओं में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। अरे ! तब तो हमारी विजय से हमारी पराजय कहीं अधिक श्रेयस्कर है। (मोरोपन्त से) आह ! पेशवा ! यह···यह मेरे एक सेनापति ने···मेरे एक सेनापति ने क्या··· क्या कर डाला ? लज्जा से मेरा सर आज पृथ्वी में नहीं; पाताल

में घुसा जाता है। इस पाप का न जाने मुझे कैसा-कैसा प्रायश्चित करना पड़ेगा ? (कुछ रुक कर) पेशवा ! इस समय तो मैं केवल एक घोषणा करता हूं—भविष्य में अगर कोई ऐसा कार्य करेगा तो उसका सिर उसी समय धड़ से जुदा कर दिया जायगा।

——

आप क्या करते हैं ?

[जैनेन्द्रकुमार]

जब पहले-पहल दो व्यक्ति मिलते हैं तो परस्पर पूछते हैं 'आपका शुभ नाम ?' नाम के बाद अगर आगे बढ़ने की वृत्ति हुई तो पूछते हैं, 'आप क्या करते हैं ?'

'क्या करते हैं ?' इसके जवाब में एक दूसरे को मालूम होता है कि उनमें से एक वकील है, दूसरा डाक्टर है। इसी तरह वे आपस में दूकानदार, मुलाजिम, अध्यापक, इंजीनियर आदि-आदि हुआ करते हैं।

पर इस तरह के प्रश्न के जवाब में मैं हक्का-बक्का रह जाता हूँ। मैं डाक्टर भी नहीं हूँ, वकील भी नहीं हूँ, कुछ भी ऐसा नहीं हूँ जिसको कोई संज्ञा ठीक-ठीक ढँक सके। बस वही हूँ जो मेरा नाम है। मेरा नाम दयाराम है, तो दयाराम मैं हूँ। नाम रहीम-बख्श होता तो मैं रहीमबख्श होता। 'दयाराम' शब्द के कुछ भी अर्थ होते हों और 'रहीमबख्श' के भी जो चाहे माने हों, मेरा उनके मतलब से कोई मतलब नहीं है। मैं जो भी हूँ वही बना रहकर दयाराम या रहीमबख्श रहूँगा। मेरा संपूर्ण और सच्चा परिचय इन नामों से आगे होकर नहीं रहता, न भिन्न होकर रहता है। इन नामों के शब्दों के अर्थ तक भी वह परिचय नहीं जाता, क्योंकि नाम नाम है, यानी वह ऐसी वस्तु है जिसका अपना आपा कुछ भी नहीं है। इसलिए उस नाम के भीतर संपूर्णता से मैं ही हो गया हूँ।

खैर, वह बात छोड़िए। मुझसे पूछा गया, 'आपका शुभ नाम ?' मैंने बता दिया— दयाराम'। दया का या और किसी का राम मैं किसी प्रकार भी नहीं हूँ। पर किसी अतर्क्य पद्धति से मेरे दयाराम हो रहने से उन पूछनेवाले मेरे नये मित्र को मेरे साथ व्यवहार-वर्णन करने में सुभीता हो जायगा। जहाँ मैं दीखा बड़ी आसानी से पुकार कर वह पूछ लेंगे, 'कहो दयाराम, क्या हाल है ?' और मैं भी बड़ी आसानी से दयाराम के नाम पर हँस-बोल कर उन्हें अपना या इधर-उधर का जो हाल-चाल होगा बता दूँगा।

यहाँ तक सब ठीक है। लेकिन जब यह नये मित्र आगे बढ़कर पूछते हैं, 'भाई, क्या करते हो ?' तब मुझे मालूम होता है कि यह तो मैं भी जानना चाहता हूँ कि क्या करूँ ? क्या करूँ' का प्रश्न तो मुझे अपने पग-पग आगे बैठा दीखता है। जी होता है, पूछूँ, 'क्या आप बताइएगा, क्या करूँ ?' मैं क्या बताऊँ कि आज यह यह किया। सबेरे पाँच बजे उठा; छः बजे घूमकर आया; फिर बच्चे को पढ़ाया; फिर अखबार पढ़ा, फिर बगीचे की क्यारियाँ सींचीं; फिर नहाया, नाश्ता किया,—फिर यह किया, फिर वह किया। इस तरह अब तीन बजे तक कुछ न कुछ तो मुझसे होता ही रहा है, यानी मैं करता ही रहा हूँ। अब तीसरे पहर के तीन बजे यह जो मिले हैं नये मित्र, तो इनके सवाल पर क्या मैं इन्हें सबेरे पाँच से अब तीन बजे तक की अपनी सब कारवाइयों का बखान सुना जाऊँ ? लेकिन, शायद वह नहीं चाहते। ऐसा मैं करूँ तो शायद हमारी उगती हुई मित्रता सदा के लिये वहीं अस्त हो जाय। यदि उनका अभिप्राय यह जानना है जो उनके प्रश्न पूछने के समय मैं कह रहा हूँ, तो साफ है कि मैं उनका प्रश्न सुन रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ। तब क्या यह

कह पड़ूँ कि, 'मित्रवर, मैं आपकी बात सुन रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ।' नहीं, ऐसा कहना ठीक न होगा। मित्र इससे कुछ समझेंगे तो नहीं, उल्टा बुरा मानेंगे। दयाराम मूर्ख तो हो सकता हैं पर बुरा होना नहीं चाहता। इसलिये प्रश्न के जवाब में मैं मूर्ख का मूर्ख, कोरी निगाह से बस उन्हें देखता रह जाता हूँ। बल्कि थोड़ा-बहुत और भी अतिरिक्त मूढ़ बनकर लाज में सकुच जाता हूँ। पूछना चाहता हूँ कि, 'कृपया आप बता सकते हैं कि मैं क्या करूँ ? – यानी क्या कहूँ कि यह करता हूँ।

किंतु यह सौभाग्य की बात है कि मित्र अधिकतर कृपापूर्वक यह जानकर संतुष्ट होते हैं कि दयाराम मेरा ही नाम है। वह*- होने के बहाने मैं बच जाता हूँ। यह नाम की महिमा है। नहीं तो दिन में जाने कितनी वार मुझे अपनी मूढ़ता का सामना करना पड़े।

आज अपने भाग्य के व्यंग पर मैं बहुत विस्मित हूँ। किस बड़-भागी पिता ने इस दुर्भागी बेटे का नाम रक्खा था 'दयाराम'। उन्हें पा सकूँ तो कहूँ, 'पिता तुम खूब हो! बेटा तो डूबने ही योग्य था, किन्तु तुम्हारे दिये नाम से ही वह भोला चतुर मित्रों से भरे, इस दुनिया के सागर में उतराता हुआ जी रहा है। उसी नाम से वह तर जाय तो तर भी जाय, नहीं तो डूबना ही उसके भाग्य में था। पिता, तुम जहाँ हो, मेरा प्रणाम लो। पिता, मेरे विनीत प्रणाम ले लो। उस प्रणाम की कृतज्ञता के भरोसे ही, उसीके लिये, मैं जी रहा हूँ, जीना भी चाहता हूँ। पिता, नहीं तो मैं एकदम मतिमंद हूँ और जाने क्यों जीने लायक हूँ!'

पर आपसे बात करते समय पिता की बात छोड़ूँ। अपने इस जीवन में मैंने उन्हें सदा खोया पाया। रो-रोकर उन्हें याद

*- नाम अखबारों में कभी-कभी छपा भी करता है, इससे क्या राम

करने से आपको क्या लाभ ? और आपको क्या, मुझे क्या—दोनों को आपके लाभ की बात करनी चाहिए।

तो मैंने कहा, 'कृपापूर्वक बताइए, क्या करूँ ? बहुत भटका, पर मैंने जाना कुछ नहीं। आप मिले हैं, अब आप बता दीजिए।'

उन नये मित्र ने बताया कुछ नहीं, वे बिना बोले आगे बढ़ गए। मैं भी चला। आगे उन्हें एक अन्य व्यक्ति मिले। पूछा, 'आप क्या करते हैं ?'

उत्तर मिला, 'मैं डाक्टर हूँ।'

सज्जन मित्र ने कहा, 'ओः आप डाक्टर हैं ! बड़ी खुशी हुई। नमस्ते डाक्टर जी, नमस्ते। खूब दर्शन हुए। कभी मकान पर दर्शन दीजिए ना—जी हाँ, यह लीजिए मेरा कार्ड।……रोड पर कोठी है ।—जी हाँ आपकी ही है ! पधारिएगा। कृपा, कृपा। अच्छा, नमस्ते।

मुझे इन उद्गारों पर बहुत प्रसन्नता हुई। किंतु मुझे प्रतीत हुआ कि मेरे दयाराम होने से उन व्यक्ति का डाक्टर होना किसी कदर अधिक ठीक बात है। लेकिन, दयाराम होना भी कोई गलत तो नहीं है !

किंतु, मित्रवर कुछ आगे बढ़ गए थे। मैं भी चला। एक तीसरे व्यक्ति मिले। कोठीवाले मित्र ने नाम परिचय के बाद पूछा 'आप क्या करते हैं ?"

'वकील हूँ।'

ओः वकील हैं ! बड़ी प्रसन्नता के समाचार हैं। नमस्ते, वकील साहब नमस्ते। मिलकर भाग्य धन्य हुए। मेरे बहनोई का भतीजा इस साल लॉ फाइनल में है। मेरे लायक खिदमत हो तो बतलाइये। जी हाँ, आप ही की कोठी है, कभी पधारिएगा। अच्छा जी नमस्ते, नमस्ते नमस्ते।'

इस हर्षोद्‌गार पर मैं प्रसन्न ही हो सकता था; किन्तु मुझे लगा कि बीच में वकील के आ उपस्थित होने के कारण दोनों की मित्रता की राह सुगम हो गई है।

यह तो ठीक है. डाक्टर, वकील या और कोई पेशेवर होकर व्यक्ति की मित्रता की पात्रता बढ़ जाय, इसमें मुझे क्या आपत्ति? इस संबंध में मेरी अपनी अपात्रता मेरे निकट इतनी सुस्पष्ट प्रगट है; और वह इतनी निबिड़ है कि उस बारे में मेरे मन में कोई चिंता ही नहीं रह गई है। लेकिन, मुझे रह-रह कर एक बात पर अचरज होता है। प्रश्न जो पूछा गया था, वह तो यह था कि, 'आप क्या करते हैं?' उत्तर में डाक्टर और वकील ने कहा कि वे डाक्टर और वकील हैं। मुझे अब अचरज यह है कि उन प्रश्नकर्ता मित्र ने मुड़कर फिर क्यों नहीं पूछा कि, 'यह तो ठीक है कि आप डाक्टर और वकील हैं। आप डाक्टर रहिए, आप वकील रहिए. लेकिन कृपया आप करते क्या हैं!'

समझ में नहीं आता कि प्रश्नकर्ता मित्र ने अपने प्रश्न को फिर क्यों नहीं दुहराया, लेकिन मतिमूढ़ मैं क्या जानूँ? प्रश्न-कर्ता तो मुझ जैसे कम-समझ नहीं रहे होंगे। इसलिए डाक्टर और वकीक वाला जवाब पाकर वह असली भेद की बात समझ गए होंगे। लेकिन, वह असली बात क्या है?

खैर, इन उदाहरणों से काम की सीख लेकर मैं आगे बढ़ा। राह में सदभिप्राय सज्जन मिले, उन्होंने पूछा—

'आपका शुभ नाम?'

'दयाराम।'

'आप क्या करते हैं?,

'मैं कायस्थ हूँ, श्रीवास्तव।'

'जी नहीं, आप करते क्या हैं?'

'मैं श्रीवास्तव कायस्थ हूँ। पाँच बजे उठा था, छः बजे घूम कर लौटा, फिर·····और फिर·········।'

लेकिन देखता क्या हूँ कि वह सज्जन तो मुझे बोलता ही छोड़कर आगे बढ़ गए हैं। पीछे घूमकर देखना भी नहीं चाहते। मैंने अपना कपार ठोंक लिया। यह तो मैं जानता हूँ कि मैं मूढ़ हूँ। बिलकुल निकम्मा आदमी हूँ। लेकिन मेरे श्रीवास्तव होने में क्या गलती है? कोई वकील है, कोई डाक्टर है। मैं वकील नहीं हूँ, डाक्टर भी नहीं हूँ। लेकिन मैं श्रीवास्तव तो हूँ। इस बात की तस्दीक दे और दिला सकता हूँ। अखबारवाले 'दयाराम श्रीवास्तव' छापकर मेरा श्रीवास्तव होना मानते हैं। मतलब यह नहीं कि मेरी श्री वास्तव है, न यही कि कोई वास्तव श्री मुझमें है; लेकिन जो मेरे पिता थे वही मेरे पिता थे और वह मुझे अकाट्य रूप से श्रीवास्तव छोड़ गये हैं। जब यह बिल्कुल निर्विवाद है तो मेरे श्रीवास्तव होने की सत्यता को जानकर नये परिचित वैसे ही आश्वस्त क्यों नहीं होते जैसे किसी के वकील या डाक्टर होने की सूचना पर आश्वस्त होते हैं?

'आप क्या करते हैं?'

'मैं डाक्टर हूँ।'

'आप क्या करते हैं?'

'मैं वकील हूँ।'

'तुम क्या करते हो?'

'मैं श्रीवास्तव हूँ।'

"मैं श्रीवास्तव तो हूं ही। इसमें रत्ती भर झूठ नहीं है। फिर मेरी तरह का जवाब देने पर डाक्टर और वकील भी बेवकूफ क्यों नहीं समझे जाते?

वे लोग मेरे जैसे, अर्थात् बेवकूफ, नहीं हैं यह तो अच्छी

तरह जानता हूँ तब फिर उनके वकील होने से भी अधिक मैं श्रीवास्तव होकर बेवकूफ किस बहाने समझ लिया जाता हूँ, यह मैं जानना चाहता हूँ।

'मूर्ख !' एक सद्‌गुरु ने कहा, 'तू कुछ नहीं समझता। अरे, डाक्टर डाक्टरी करता है, वकील वकालत करता है। तू क्या श्रीवास्तवी करता है?'

यह बात तो ठीक है कि मैं किसी 'श्री' की कोई 'वास्तवी' नहीं करता। लेकिन सद्‌गुरु के ज्ञान से मुझमें बोध नहीं जागा। मैंने कहा, 'जी, मैं कोई श्रीवास्तवी नहीं करता हूँ। लेकिन, वह वकालत क्या है, जिसको वकील करता है? और वह डाक्टरी क्या है, जिसको डाक्टर करता है?'

'अरे मूढ़ !' उन्होंने कहा, तू यह भी नहीं जानता! अदालत जानता है कि नहीं? अस्पताल जानता है कि नहीं?'

'हाँ' मैंने कहा, 'वह तो जानता हूँ।'

'तो बस' गुरु ने कहा, 'अदालत में वकील वकालत करता है। अस्पताल में डाक्टर डाक्टरी करता है।'

'अजी तो वकालत को वह 'करता' क्या है! जैसे मैं खाना खाता हूँ, यानी खाने को मैं खा लेता हूँ; वैसे वह वकालत को क्या करता है?'

'अरे तू है मूढ़।' उन्होंने कहा, 'सुन, वह अदालत के हाकिम से बोलता है, बतलाता है, बहस करता है, कानूनी बात निकालता है। कानून में फँसे लोगों की वही तो सार-संभाल करता है।'

'तो यह बात है कि वह बात करता है, बतलाता है, बहस करता है, कानून की बात निकालता है, उसके सताये आदमियों की मदद करता है। लेकिन आप तो कहते थे कि वह 'वकालत

करता है।' वकालत में बात ही तो करता है! फिर, वकालत कहाँ हुई?—बात हुई। बात तो मैं भी कर रहा हूँ। क्यों जी?'

उन्होंने झल्लाकर कहा, 'अरे इस सब काम को ही वकालत कहते हैं।'

'तो वकालत करना, बात करना है। मैं तो सोचता था न जाने वह क्या है। अच्छा जी वकालत को करके वह क्या करता है?—याने, अदालत में वह बहुत बातें करता है। उन बातों को करके भी वह क्या करता है?'

उन्होंने कहा, 'रे मतिमंद, तू कुछ नहीं जानता है। बातों ही का तो काम है। बात बिना क्या? वकील के बातों के ही तो पैसे हैं। उन बातों से वह जीता है और फिर उन्हीं से बड़ा आदमी बनता है।'

उन बातों को करके वह बड़ा आदमी बनता है.—'अब मैं समझ गया, जी। लेकिन जो बड़ा नहीं है, आदमी तो वह भी है न? क्यों जी? मैं दिन भर सच झूठ बात करूँ तो मैं भी बड़ा हो जाऊँ? और बड़ा न होऊँ, तब भी मैं आदमी रहा कि नहीं रहा?'

उन्होंने कहा, 'तू मूढ़ है! बड़ा तू क्या होगा? तू आदमी भी नहीं है।'

'लेकिन जी, बात तो मैं भी करता हूँ। अब कर रहा हूँ कि नहीं? लेकिन फिर भी मैं अपने को निकम्मा लगता हूँ। ऐसा क्यों है?'

'अरे तू मतलब के काम की बात जो नहीं करता है!'

'अजी, तो बात करने का काम तो करता हूँ! यह कम मतलब है?'

वह बोले, 'अच्छा, जा जा, सिर न खा। तू गधा है।'

अब यह बात तो मैं जानता हूँ कि गधा नहीं हूँ। चाहूँ तो भी नहीं हो सकता। गधे की तरह सींग तो अगरचे मेरे भी नहीं हैं, लेकिन इतना मेरा विश्वास मानिए कि यह साम्य होने पर भी गधा मैं नहीं हूँ। मैं तो दयाराम हूँ। कोई गधा दयाराम होता है? और मैं श्रीवास्तव हूँ,—'कोई गधा श्रीवास्तव होता है? वकील डाक्टर नहीं हूँ, लेकिन श्रीवास्तव तो मैं हर वकालत-डाक्टरी से अधिक सचाई के साथ हूँ। इसलिये, उन गुरुजन के पास से मैं चुपचाप भले आदमी की भाँति सिर झुकाकर चला आया।'

लेकिन, दुनिया में वकील-डाक्टर ही सब नहीं हैं। यों तो इस दुनियाँ में हम जैसे लोग भी हैं. जिनके पास बताने को या तो अपना नाम है या बहुत से बहुत कुल-गोत्र का परिचय है। इसके अलावा जिन्होंने इस दुनिया में कुछ भी अर्जित नहीं किया है, ऐसे अपने जैसे लोगों की तो इनमें गिनती क्या कीजिए! पर सौभाग्य यह है कि ऐसे लोग बहुत नहीं हैं अधिकतर लोग संभ्रांत हैं, गणनीय हैं और उनके पास बताने को काफी कुछ रहता है।

'आप क्या करते हैं?'

'बैंकर हूँ।—जी हाँ, साहूकार।'

'आप क्या करते हैं?'

'कारोबार होता है। बंबई, कलकत्ता, हांगकांग में हमारे दफ्तर हैं।'

'आप क्या करते हैं?'

'मैं एम० ए० पास हूँ।'

'आप क्या करते हैं?'

'मैं एम० एल० ए० हूँ—लाट साहब की कौंसिल का मेंबर।

'आप क्या करते हैं?'

'ओः ! आप नहीं जानते हैं ? हँः हँः हँः, राजा चंद्रचूड़सिंह मुझें ही कहते हैं। गोपालपुर,—८६ लाख की स्टेट, जी हाँ आपकी ही है।'

'आप क्या करते हैं।'

'मुझ राजकवि से आप अनभिज्ञ हैं ? मैं कविता करता हूँ !'

'कविता ! उसका क्या करते हैं ?'

'श्रीमान्, मैं कविता करता हूँ। मैं उसी को कर देता हूँ, साहब और क्या करूँगा ?'

अत्यंत हर्ष के समाचार हैं कि बहुत लोग बहुत कुछ करते हैं और लगभग सब लोग कुछ न कुछ करते हैं। लेकिन मेरी समझ में न बहुत आता है न कुछ आता है।

दूकान पर बैठे रहना, ग्राहक से मीठी बात करना और पटा लेना, उसकी जेब से पैसे कुछ अधिक ले लेना और अपनी दूकान के सामान उसे कुछ कम दे देना,—व्यापार का यही तो 'करना' है ! इसमें 'किया' क्या गया ?

पर क्यों साहब, किया क्यों नहीं गया ? कस कर कमाई जो की गई है ! एक साल में तीन लाख का मुनाफा हुआ है,— आपको कुछ पता भी है ? और आप कहते हैं, किया नहीं गया !

लेकिन दयाराम सच कहता है कि दो रोज के भूखे अपने समूचे तन को और मन को लेकर भी, उन तीन लाख मुनाफे वालों का काम उसे समझ में नहीं आता है।

और साहूकार रुपया दे देता है और व्याज सँभलवा लेता है।—देता है उसी इकट्ठे हुए ब्याज में से। देता कम है, लेता ज्यादा है। इससे वह साहूकार होता जाता है और मोटा होता जाता है।

अगर वह दे ज्यादा और ले कम, तो क्या हम यह कहेंगे

कि उसने काम कम किया ? क्यों ? उसने तो देने का काम खूब किया है। लेकिन इस तरह एक दिन आएगा कि वह साहूकार नहीं रहेगा और निकम्मे आदमियों की गिनती में आ जाएगा।

तो साहूकारी 'काम' क्या हुआ ? खूब करके भी आदमी जब निकम्मा बन सकते हैं तो उससे तो यही सिद्ध होता है कि साहूकारी अपने आप में कुछ 'काम' नहीं है।

और राजा, राजकवि, कौंसिलर, एम० ए० पास—ये सब जो जो भी हैं, क्या वह वह मेरे अपने श्रीवास्तव होने से अधिक हैं ? मैं श्रीवास्तव होने के लिए कुछ नहीं करता हूँ। बस यह करता हूँ कि अपने बाप का बेटा बना रहता हूँ। तब, इन लोगों में इनकी उपाधियों से, अपने आपमें कौन-सा 'काम करना' गर्भित हो गया,—यह मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता है।

"मैं भी बात करता हूँ और कभी-कभी तो बहुत ही बढ़िया बात करता हूँ,—सच, आप दयाराम को झूठा न समझेंगे ! काम-बेकाम की बातें लिखता भी हूँ, अपने घर में ऐसा बैठता हूँ जैसे कौंसिलर कौंसिल में बैठता है, नवाब बना बच्चों पर हुकूमत भी चलाता हूँ—लेकिन यह सब करके भी मैं बड़ी आसानी से छोटा आदमी और निकम्मा आदमी बना हुआ हूँ। इससे मुझे कोई दिक्कत नहीं होती।'

फिर बड़ा आदमीपन क्या ? और वह है क्या जिसे 'काम' कहते हैं ?

एक किताब है गीता। ऊपर के तमाम स-'काम' आदमी भी कहते सुने जाते हैं कि गीता बड़े 'काम' की किताब है। मूढ़-मति क्या उसे समझूँ। यह एक दिन साहस-पूर्वक उठाकर जो उसे खोलता हूँ तो देखा, लिखा है, 'कर्म करो, कर्म में अकर्म करो।'

यह क्या बात हुई। करना अकर्म है, तो वह कर्म में क्यों किया जाय? और जब वह किया गया तो 'अकर्म' कैसे रह गया? जो किया जायगा वह तो कर्म है. उस कर्म को करते-करते भी उसमें 'अ-कर्म' कैसे साधा जाय? और गीता कहती है—उस अकर्म को साधना ही एक धर्म है—वह परम पुरुषार्थ है।

होगा। हमारी समझ में क्या आवे! दुनिया तो कर्म युतों की है। आप कर्मण्य हैं आप धन्य हैं। तब क्या कृपाकर मुझ दयाराम को भी अपने कर्म का भेद बताएँगे?

बदरीनाथ की यात्रा

[श्रीमती महादेवी वर्मा]

किसी वस्तु को प्राप्त कर लेने की इच्छा में जो मधुरता है वह उस इच्छा की पूर्ति में नहीं, इसका अनुभव मुझे बदरीनाथ के धूप में पारे के समान झिलमिलाते हुए हिमालय शिखरों के निकट पहुँच कर हुआ।

हनुमान चट्टी से पाँच छः मील की जो दुर्गम और विकट चढ़ाई आरम्भ हुई थी, उसका अन्त एक ओर नर और दूसरी ओर नारायण नाम के पर्वतों तथा उनकी असंख्य श्रेणियों से घिरी हुई समतल भूमि में हुआ। श्वेत कमल की पंखुरियों के समान लगनेवाले पर्वतों के बीच में, निरंतर कलकल-निनादिनी अलकनन्दा के तीर पर बसी हुई वह पुरी हिमालय के हृदय में छिपी हुई इच्छा के समान जान पड़ी। वृक्ष, फूल और पत्तों का कहीं चिह्न भी नहीं था। जहाँ तक दृष्टि जाती थी निस्पंद समाधि में मग्न तपस्विनी आडम्बरहीन सूनी पृथ्वी ही दिखाई देती थी और उतने ही निश्चल तथा उज्ज्वल हिमालय के शिखर ऐसे लगते थे मानों किसी शरद-पूर्णिमा की रात्रि में पहरा देते-देते चांदनी समेत जमकर जड़ हो गये हों !

बदरीनाथ से एक मील बाहर वहाँ के वयोवृद्ध रईस नारायण दत्त जी ने फूलों से सजा हुआ एक सुन्दर बँगला बनवा रक्खा है, जिसमें कभी-कभी कोई संभ्रांत व्यक्ति ठहर जाता है, परन्तु प्रायः उसकी दीवारों को पथिकों का दर्शन

दुर्लभ रहता है। पक्के तीर्थ-यात्री तो पंडे के संकीर्ण घर में भेड़-बकरियों की तरह भरे रहने में ही पुण्य की प्राप्ति समझते हैं।

नारायणदत्त जी ऐसे विदेह गृहस्थ हैं, जो अपनी साधना का फल औरों को समर्पण कर देने में ही सिद्धि समझते हैं—बदरीनाथ ऐसे स्थान में उन्होंने बाग लगाया है, फलों के पेड़ लगाये हैं, आलू की खेती आरम्भ की है और न जाने कितने उपयोगी कार्य किये हैं। इतनी वृद्धावस्था में भी दिन-दिन भर धूप में उन्हें काम करते और कराते देखकर हमें बड़ा विस्मय हुआ।

फूलों के निकट रहने की इच्छा से, एकान्त के आकर्षण से, और अपने स्वभाव के कारण मैंने वहीं ठहरने का निश्चय किया, परन्तु हमारे सहयात्रियों में जो एक-दो सच्चे तीर्थ-यात्री थे वे उसी समय अपने पंडे का आतिथ्य स्वीकार करने चले गये। पंडा जी हमें भी बुलाने आये और उनकी नम्रता, उनका शील देखकर मेरा पंडों के प्रति उपेक्षा भाव तो दूर हो गया, परन्तु वह स्थान इतना रमणीक था कि उसे छोड़ने की कल्पना भी अच्छी नहीं लगी।

वही रुपये सेर दूध, रुपये सेर आटा और एक आने की एक छोटी लकड़ी के हिसाब से लकड़ियाँ मँगाकर भोजन की व्यवस्था की गई। कदाचित् इस मँहगेपन के कारण ही बदरीनाथ में यात्रियों के स्वयं भोजन न बनाकर पंडे के यहाँ या बाजार में भोजन का प्रबंध करने की प्रथा है। इस प्रथा का अनुसरण करने के कारण पुरी में ठहरने वाले हमारे साथी इतने अस्वस्थ हो गये कि दूसरे दिन उन्हें उसे छोड़ देना पड़ा।

उस दिन तीसरे पहर तक उन रुपहले शिखरों को मन भर कर देखने के उपरान्त अलकनन्दा का छोटा-सा पुल पार करके हम

सब पुरी देखने निकले, परन्तु देखकर केवल निराशा हुई। संकीर्ण गलियाँ और घर दुर्गन्धिपूर्ण और गन्दे थे। देखकर सोचा कि जब हम अपने इतने बड़े तीर्थ-स्थान को भी स्वच्छ और सुन्दर नहीं रख सकते तब किसी और स्थान को स्वच्छ रखने की आशा तो दुराशामात्र है। उत्तुङ्ग स्वर्ग के चरणों से ही नरक की अतल गहराई बँधी है, उसका प्रमाण ऐसे स्थान में मिल सकता है, जहाँ पाप-पुण्य, पवित्रता-मलिनता और करुणा-क्रूरता के एक दूसरे में जीने वाले द्वन्द्व प्रत्यक्ष आ जाते हैं।

असंख्य गण्यमान्य और नगण्य, धनी और दरिद्र, शक्ति-सम्पन्न और दुर्बल, सपरिजन और एकाकी यात्री वहाँ प्रतिवर्ष जाते-आते हैं। धनिकों के सारे अभाव धन दूर कर देता है, परन्तु दरिद्रों के लिए न रहने का अच्छा प्रबन्ध है, न भोजन का। फलतः अधिकांश यात्री रोगी होकर लौटते हैं और कुछ मार्ग में ही परमधाम का मार्ग ले लेते हैं।

उस दिन हम लोग दो मील दूर उस मन्दिर को देखने गये जो द्रौपदी के गलने के स्थान पर उसकी स्मृति में बनाया गया है। वहाँ से थोड़ी ही दूर पर दो पर्वतों के बीच से निकलती हुई वसुन्धरा की पतली धारा दिखाई दी, जो दूर से बादलों से छनकर आती हुई किरणों की तरह जान पड़ती थी। उसी के पास व्यास-गुफा नाम की गुफा और तिब्बत जाने का मार्ग है, और वहीं तिब्बती लोगों के एक ग्राम का भग्नावशेष है, जिसमें अब भी कुछ लोग आते-जाते दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

बदरीनाथ पुरी में देखने योग्य वस्तुओं में मन्दिर और अलकनन्दा के बीच में एक बहुत उष्ण जल का और एक ठंढे जल का स्रोत है। वहीं एक कुण्ड बना दिया गया है, जिसमें

दोनों स्रोतों का जल मिलाकर यात्रियों को स्नान कराया जाता है—सम्भव है, यही तप्तकुण्ड इस स्थान की प्रसिद्धि का कारण हो।

मन्दिर अपनी प्रसिद्धि के अनुरूप नहीं है और भीतर द्वारों पर कटघरे से लगाकर मानों भगवान् को भी बन्धन में डाल दिया है। द्वारपाल उन्हीं को सरलता से प्रवेश करने देते हैं जो संभ्रांत व्यक्ति जान पड़ते हैं और मलिन वेश वाले दरिद्र घंटों सतृष्ण दृष्टि से उन जाने-आने वालों को देखते रहते हैं। भीतर जाकर लाल पगड़ीवाले सिपाहियों को अन्तःद्वार की रक्षा करते देखकर हमारे विस्मय की सीमा नहीं रही। वे भी वस्त्रों को आदर की दृष्टि से देखते थे और दीन स्त्री पुरुषों को हाथ पकड़-पकड़ कर रोक देते थे। उस द्वार को भी पार कर नर-नारायण की मूक प्रतिमा देखी, जिस पर न हर्ष था, न विषाद, न कभी कुछ होने की आशा ही थी, केवल उसके पुजारी की आँखें हर्ष से नाच रही थीं। वे दोनों हाथों से चाँदी की राशि बटोर रहे थे। भगवान के लिये नहीं, परन्तु उनके पुजारी की प्रसन्नता के लिये मैंने भी रजत-खण्ड चढ़ा कर विषण्ण मुख से बिदा ली।

दूसरे दिन हमने निकटवर्ती चाँदी के पहाड़ पर चढ़ना आरम्भ किया, जिसमें बड़ा आनन्द पाया। कहीं-कहीं बर्फ जमकर ऐसा हो गई थी कि संगमरमर का भ्रम हो जाता था। न वह गलता था न कुछ विशेष ठंढा लगता था; उससे ठंढा तो अलकनन्दा का जल था, जिसमें हाथ डालते ही उँगलियाँ ऐंठ जाती थीं। हवा में भी कुछ विशेष सर्दी नहीं मालूम हुई; मुझे तो गर्म कपड़े भी न पहनने पड़े। जहाँ बर्फ पिघल रही थी वहाँ से खोद कर कुछ बर्फ खाई और गोले बना कर लाये।

तीसरे दिन प्रस्थान के समय फिर मन्दिर में जाकर फूलों

की माला न मिलने के कारण जङ्गली तुलसी के पत्तों की माला चढ़ा कर बिदा हुए। पंडा जी सुफल बोलने के लिये उत्सुक थे, परन्तु मुझसे यह सुनकर कि मेरी यात्रा की सफलता मेरे मन पर निर्भर है, मौन हो रहे। उन्होंने मुझे प्रसाद दिया और मैंने उनके आतिथ्य के बदले में कुछ उन्हें अर्पण किया। केवल उनसे स्वर्ग के लिए प्रवेश-पत्र लेना मुझे स्वीकार न था। बँगले में लौटकर कैमरे का कुछ दुरुपयोग सदुपयोग किया। फिर नारायणदत्त जी से मिलकर उनके आतिथ्य के बदले में कुछ भेंट देनी चाही परन्तु उन्हें तो भगवान् के मन्दिर में रहने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था जो लक्ष्मी की चरण-सेवा करना जानते! वे हमारी श्रद्धांजलि से सन्तुष्ट हो गये।

बदरीनाथ हमारा ऐतिहासिक तीर्थ स्थान है, परन्तु असंख्य यात्रियों में से दो-चार ने भी कभी इसकी दुरवस्था के कारण पर विचार किया होगा, ऐसा विश्वास नहीं होता। ग्राम गन्दा है, मन्दिर टूटा जा रहा है। तप्तकुण्ड की ओर अलकनन्दा की धारा बढ़ती जा रही है। सम्भव है, किसी दिन वह भी न रहे; ऐसी दशा में समर्थ यात्रियों के कर्त्तव्य की इतिश्री क्या इसी में है कि वे अपनी यात्रा का सफलता-पत्र लेकर आया करें।

यात्रीगण और विशेषकर रावलजी ध्यान दें तो वह अलकनन्दा के तीर पर बसी हुई पुरी अलकापुरी के समान ही सुन्दर हो सकती है।

—❀—